

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 2, अंक : 4, अप्रैल - जून 2015

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल



विद्यार्थी मंच

मूल्य : 50 रुपये

उस पार से...

मुंशी प्रेमचंद

(31 जुलाई 1880 - 08 अक्टूबर 1936)



कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी-न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा; दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता, जब तक कि मानव-न्यायबुद्धि उसकी मौत न मांगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रांति है, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।...

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा में दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है- यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है।

खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौंदर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुंदर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

साहित्य का उद्देश्य

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-2, अंक- 4, अप्रैल-जून 2015

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : सुनील कुमार साव
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव

व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, सोनम सिंह,
मृत्युंजय पाण्डेय, नगीना लाल दास,

विशेष सहयोग :

डॉ. सुनीता साव, डॉ. दीपान्विता माजि, (कोलकाता)
डॉ. मनीषा झा (दार्जिलिंग), पुनीत कुमार राय (छत्तीसगढ़),
लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता (वाराणसी), रविकांत (लखनऊ),
मनोज कुमार साव (उत्तराखंड), राजीव रंजन (दिल्ली),
आनंद प्रसाद नोनिया (भुवनेश्वर)

आकल्पन : सोनू प्रजापति

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09836943231
Email : shawsunil30@gmail.com

मुद्रक

शिक्षण

50, सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता-700 009

कथालोचना केन्द्रित अंक

संपादन और प्रकाशन- अवैतनिक

पत्रिका में व्यक्त विचार से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
	07 डॉ. राणा प्रताप : 12 डॉ. अमरनाथ : 16 पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु	कथालोचना : दशा और दिशा हिंदी कथा समीक्षा की पड़ताल 'मत कहो आकाश में कुहरा घना है,' पर यही हिंदी कथा-आलोचना है!
समीक्षा	32 डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ 36 रामनिहाल गुंजन : अनुशीलन	समकालीन कहानी: भविष्य की चुनौतियाँ विजय मोहन सिंह की कथा दृष्टि और हिंदी कथा आलोचना
	42 विमल वर्मा : 47 सेवाराम त्रिपाठी : 50 सुनीता साव :	छनती-रिसती संवेदनाएँ कितने पाकिस्तान: कुछ विचारणीय मुद्दे तुम किसकी हो बिन्नी :
	54 रेखा कुमारी त्रिपाठी : विमर्श	भ्रूण हत्या के आवरण में लिपटा स्त्री-दर्द संजीव का कथा साहित्य : एक अनुशीलन
	57 डॉ. प्रदीप सक्सेना : 67 रविकांत : अन्तःपाठ	क्यों न हो कथा-आलोचना में एक और युग- "देवकीनन्दन खत्री युग" किसान समस्या, प्रेमचंद और जादुई यथार्थवाद
	70 डॉ. पुनीत कुमार राय : 72 मृत्युंजय पाण्डेय :	हिन्दी की पहली कहानी 'इंदुमती' योम-ए-आजादी की तैयारी के साल का कथा संदर्भ : 'अमृतसर आ गया है'
संचार	गवेषणा	
	75 मनीषा झा : 79 डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय : कविता	युवा कहानी : आंदोलन का यथार्थ आदिवासी अस्मिता बोध का संकट और हिंदी उपन्यास
	84 विष्णु चंद्र शर्मा :	कबीर आए हैं अकेले, कबीर के अनुभव में, बतकही कबीर से, कब कबीर बन सका है

शोध	86 शम्भु बादल :	वसंत लाने का रास्ता बताया, दहकती है धूप, हँसी, यह पल, नींव
	88 सुरेन्द्र स्निग्ध :	हमारा प्यार, तुम हो बादल तुम बरस रही हो, शब्द और रंग
	90 चाँद 'शेरी' :	गज़ल
	90 डॉ. नलिन :	गज़ल
समीक्षक	नई पहल नया कदम	
	91 रेखा कुमारी :—	अंतर्यात्रा, दो सवाल/ गर्वोक्ति, जिंदगी
	कहानी	
	92 रामदरश मिश्र:	चंपा
	95 शर्मिला बोहरा जालान:	व्हाट्सएप
	99 डॉ. सविता मिश्र:	रोज-रोज
भाषण	भाषान्तर	
	103 किशोर कुमार जैन :	धरती का अंतिम स्टेशन (असमिया कहानी) मूल कथाकार: मनोज कुमार गोस्वामी
	पुस्तकायन	
	107 शिव कुमार अर्चन :	मौत के अंधकार में जीवन की तलाश
सृजन	109 अरुण अभिषेक :	कश्मीर के वैविध्यपूर्ण परिदृश्य में 'इकबाल'
	112 डॉ. इतु सिंह :	उपसंहार- काशीनाथ सिंह का नया उपन्यास
	114 डॉ. सूर्य प्रसाद शुक्ल :	'धर्मात्मा विभीषण' में जीवन का छाया चित्र
	संचार	
संचार	118 प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी :	अ-व्यवस्थित लोकतंत्र और साहित्यिक पत्रकारिता
	गतिविधियाँ	
	126 साहित्यिक गतिविधियाँ	
	127 अभिमत	
र	128 मुक्तांचल प्राप्ति स्थान	

संस्तुति

‘मुक्तांचल’ का यह अंक कथालोचना पर केन्द्रित रखते हुए मुझे सकारात्मक प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुईं। कनिष्ठों से अधिक वरिष्ठों ने न केवल अपनी रुचि दिखायी बल्कि परिश्रम से तैयार किये गये आलेखों, गवेषणाओं एवं विमर्शों के अनुदान द्वारा मेरा हौसला बढ़ाया। कथालोचना पर बासी पड़ी बातों पर अगर फिर से एक ताजी नजर उठे और नये विमर्शों का अनुसंधान हो तो ‘कैम्पस’ फिर से मुखर होंगे— संप्रति साहित्य का लेना-देना सही अर्थों में ‘कैम्पस’ से जुड़ा हुआ है। किसे साहित्य की दुनिया में स्थान मिल पायेगा, किसे नहीं? कौन-सा ‘डिबेट’ रंग लायेगा— अध्ययन अध्यापन के क्षेत्र में चर्चित होगा, ये सारी बातें ‘कैम्पस’ से जुड़ती हैं और वहीं से विस्तार भी पाती हैं। लेकिन— आज का सुविधाभोगी दिखावा पसंद माहौल दिखावे में ही रचता और बसता है। काम आदमी तभी करता है जब उसके लिए वह उसकी जरूरत बन जाता है। बाजार का लेबल जिस पर लग गया वह चल निकलता है। यांत्रिक ढंग से लेन-देन और व्यवहार चलता-रहता है। नयी पीढ़ी में मैंने पाया कि यह सब बहुत ज्यादा है। मेहनत न करना पड़े और काम बन जाय। पिछलग्गुओं की जमात तैयार करने में पुराने भी नहीं थकते हैं, इस तरह पूरा का पूरा ‘कैम्पस’ घुघुओं के डेरे से भर रहा है लेकिन यह अंत नहीं है। पत्रिका के संयोजन एवं संपादन के अनंतर मैं वरिष्ठ प्राध्यापकों एवं विद्वानों का अतुलनीय सहयोग प्राप्त करती आ रही हूँ। ‘कैम्पस’ से विदाई के बावजूद उनमें चिंतन, मनन एवं शोध की प्रवृत्ति कमती नहीं दिखायी देती। उनका सहयोग ही ‘मुक्तांचल’ जैसी पत्रिका का पाथेय है।

‘कथालोचना’ पर अगर बहस चलती रहे तथा नये प्रतिमानों की तलाश तय हो तो हमें अपना श्रम सार्थक प्रतीत होगा। उम्मीद है सुधी पाठक एवं सहयोगी विमर्शों को आगे बढ़ायेंगे। ‘मुक्तांचल’ आप सभी के शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का स्वागत करता है। आइए, मिलकर लौ जलाएं और साहित्य में बढ़ती गतानुगतिकता को तोड़ें।

हमारा आगामी अंक साहित्य की विविध विधाओं से संबद्ध शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार पर केन्द्रित होगा।


संपादक

कथालोचना : दशा और दिशा

डॉ. राणा प्रताप

सच्ची आलोचना सच्ची क्रांति की तरह प्रेम से ही उत्पन्न होनी चाहिए, उच्छृंखलता और अंतर्विरोधों के बीच संतुलन और व्यवस्था स्थापित करने के प्रयास से। वरना जैसा कि हमने अपने अवसादपूर्ण समाज में देखा है कि आलोचना पागलपन या नकारवाद का दूसरा नाम बन जाती है। —सीताकांत महापात्र

मीरा सिन्हा ने जब फोन पर बताया कि 'मुक्तांचल' का अंक इस बार कथालोचना पर केंद्रित है तो सुनकर सचमुच बड़ी खुशी हुई! कवितांक और कथांक तो बीच-बीच में निकलते ही रहते हैं पर कथालोचना के बारे में न इससे पहले किसी ने सोचा और न ही आज कोई सोच रहा है। कैपस की जड़ता को तोड़ने के लिए ही सही अगर कोई कथालोचना के बारे में सोच रहा है, अंक की योजना बना रहा है तो निश्चय ही यह स्वागत योग्य है। मैं कथा और कथालोचना के साथ पिछले तीस-पैंतीस साल से जुड़ा रहा हूँ। फिर भी मन में एक असंतोष भाव रहा है कि कथालोचना को लेकर कभी गंभीर विचार-विमर्श हुए ही नहीं— नई कहानी आंदोलन के दौर को छोड़कर। इसका मतलब यह हुआ कि आलोचना के महासमर में कथालोचना हाशिए की चीज ही बनी रही है। साहित्य के इतिहास में भी इस पर फुटकर नोट लिखकर काम चला लिया गया। मीरा सिन्हा ने जब यह बताया कि वर्तमान समय में कथालोचना का मतलब सिर्फ कहानियों पर टीका-टिप्पणी करना समझा जा रहा है तो यह सुनकर और भी निराशा हुई। इसका मतलब यह हुआ कि कथालोचना को लेकर अभी भी भ्रम की स्थिति बनी हुई है। इस भ्रम का निवारण तब होता जब इस विषय पर सिलसिलेवार रूप से कोई काम होता या शोध और संधान की दिशा में कोई कदम बढ़ाता। कथालोचना के रूप व स्वरूप का निर्धारण होता। मगर ऐसा कुछ भी नहीं हो सका। इस वास्तविक सच का आरोप आलोचकों पर मढ़कर आप निश्चित भी नहीं हो सकते।

कथालोचना के क्षेत्र में अगर आज भी यह स्थिति बरकरार है तो निश्चय ही चिंता की बात है। इसी चिंता को लेकर हिंदी कथालोचना के क्षेत्र में प्रखर आलोचक देवीशंकर अवस्थी का आगमन हुआ था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह दौर नई कहानी आंदोलन का दौर था। समय सन् 1955 के बाद का है। पाठकगण सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि इससे पूर्व पचास-पचपन वर्षों तक कथालोचना की क्या स्थिति रही होगी? इस विषय पर मैं अपनी ओर

से कुछ न कहकर उन्हीं की बातों को दुहरा देना बेहतर समझता हूँ। 'नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति' की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया था- "ऐसी स्थिति में आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि आज समाज भी हिंदी के दिग्गज पंडितों के लिए कहानी केवल हल्के-फुल्के मनोरंजन का साधन ही है जिसे मनोरंजन विरोधी गंभीरताधारी पंडितजन पढ़ना भी पसंद नहीं करते। उच्चतर अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्रों में उसे पाठ्यक्रमों या शोध विषयों की सूची में स्थान भले ही मिल गया हो, पर कहानी वैसे ही पढ़ी-पढ़ाई जा सकती है जैसे कविता। यह बात अधिकांश लोगों के गले के तले नहीं उतरती। पढ़ तो विद्यार्थी घर से आते हैं, केवल संस्कृत शब्दावली, कुछ दार्शनिक लहजे में दिए गए वक्तव्यों या काव्यात्मक वर्णन-प्रसंगों को 'व्याख्या' के लिए कक्षा में पढ़ा दिया जाता है और संक्षेप में कथानक लिख देने का गुरुमंत्र दे दिया जाता है। इससे कुछ आगे बढ़े तो फिर कहानी हो या नाटक या उपन्यास सभी को बने-बनाये छह तत्त्वों वाले सांचे में ढालने की बेढंगी कोशिशें होती हैं। प्रभवान्विति इत्यादि की बात साहित्य रूपों वाले प्रश्नों के बाद वास्तविक विश्लेषण या आलोचना के प्रसंग में याद ही नहीं रखी जाती। किसी भारतीय विश्वविद्यालय के एम.ए. के प्रश्न-पत्रों से यदि कहानी संबंधी प्रश्नों को लेकर विश्लेषण किया जाए तो अध्ययन रोचक ही नहीं होगा, विश्वविद्यालय के पीठस्थ पंडितों के कहानी संबंधी रुख को भी स्पष्ट करेगा। अभी कुछ समय पूर्व तक कहानी संबंधी चर्चा कोर्स के लिए तैयार किये जाने वाले संग्रहों की भूमिका तक ही सीमित रही है। इन संग्रहों में घूम फिर कर वही कहानियां ही नहीं आतीं, वही बातें भी दुहराई जाती हैं और दी गई कहानियों के विश्लेषण या पाठ-प्रक्रिया की कोई व्यवस्थित रूप-रेखा देने के स्थान पर हिंदी कहानी के इतिहास पर चलताऊ टिप्पणी भर रहती है जिसे एक संग्रह में पढ़ लेने के बाद अन्यत्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यही बात हर भूमिका में कही गई होती है। ये ही टिप्पणियाँ इतिहास ग्रंथों में भी पाई जाती हैं और हाँ साहित्य की पुस्तकों में जहां साहित्य रूप विवेचित होते हैं, वहाँ भी कहानी के लिए थोड़ी-सी जगह सुरक्षित कर दी जाती है- हडसन को प्रमाण पुरुष मानकर,

पर सिद्धांत चर्चा आलोचना नहीं होती।"

शुरुआती दौर में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने छोटी कहानियों की बात चलाई थी और उनके सुधारवादी कोण को लेकर प्रशंसा भी की थी, जैसे- "छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहां और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ है और उसमें वर्तमान कवियों का भी पूरा योग रहा है, उनके इतने रूप-रंग हमारे सामने आये हैं कि वे सब के सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते। न तो उसमें विस्तार के नियम का पालन मिलेगा, न चरित्र-विकास का अवकाश। एक संवेदना या मनोभाव का सिद्धांत भी कहीं-कहीं ठीक न घटेगा। इसके स्थान पर हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप देगी।"

ध्यान रहे, यहां कम से कम आचार्य शुक्ल प्रचलित छह तत्त्वों वाली कथालोचना से अलग हटकर अपनी राय व्यक्त कर रहे थे। आगे कुछ और लिखा होता तो शायद कथालोचना की कोई नई राह बनती। मगर ऐसा नहीं हो सका। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इतने बड़े-बड़े काम कर रहे थे कि कथालोचना की ओर देखने की उन्हें फुर्सत ही नहीं मिली। डॉ. रामविलास शर्मा से कहानीकारों को बड़ी उम्मीद थी। लेकिन उन्होंने भी ऐसा कुछ नहीं किया जिससे कथालोचना का विकास होता। हां, उन्होंने उपन्यास को लेकर 'प्रेमचंद और उनका युग' अवश्य एक उल्लेखनीय कृति की रचना की जिसकी स्मृति आज भी बनी हुई है। अगर इस काम को कथालोचना में शुमार कर लिया जाये तो निस्संदेह यह एक बड़ा काम है। उनकी दूसरी पुस्तक है 'कथा विवेचन और गद्य विचार'।

इन बातों को आज का पाठक और शोधार्थी किस रूप में लेते हैं यह उनके विवेक की बात है। मोहन राकेश ने इसे बहुत ही पॉजीटिवली लिया था। उनका मानना था कि "हिंदी में कहानी की चर्चा थोड़े दिनों से ही आरंभ हुई है। दूसरी भाषाओं में भी कहानी की चर्चा बहुत विस्तार से नहीं हुई है, क्योंकि कविता की बात करते हुए भी प्रायः आलोचक साहित्य और कविता को पर्यायवाची से मानकर चलते हैं। कहानी विकास की दृष्टि से यह स्थिति संभवतः हितकर ही रही क्योंकि इससे कहानी के मूल्यों का आलोचकीय

परिभाषाओं के सहारे विकसित न होकर रचनात्मक प्रयोगों के सहारे विकसित हुआ।”

हिंदी कहानी रचनात्मक प्रयोगों के सहारे ही विकसित हुई— इस बात के साथ सहमति बनाई जा सकती है। क्योंकि उसके सामने आलोचकीय द्वन्द्व-फंद का कोई चक्कर नहीं था। इसी से मिलती-जुलती बातें मैंने ‘संबोधन’ के शताब्दी अंक में कही थी जो ‘बीसवीं सदी और हिंदी कहानी’ शीर्षक आलेख में अंकित है। यह लगभग बीसवीं सदी के अंत की बात है। बात यों शुरू हुई थी, “सचमुच जब साहित्य की कोई विधा अबाध रूप से विकसित होती हुई अपनी मंजिल तक पहुँचती है तब उसके लिए किसी भी तरह का कोई लक्षण, आदर्श अथवा सीमा नहीं रह जाती, वह स्वतंत्र रूप से बंधनों को तोड़ते, कूलों को ढहाते नया प्रतिमान गढ़ते अपनी पूरी रवानी के साथ विकास-यात्रा तय करती है। ऐसी स्थिति में जांचने-परखने का कोई खास मानदंड बना देना और उसी के आधार पर एक लंबे समय तक व्याख्या-विश्लेषण की पद्धति को चलाते रहना, विधागत विकास को रोकना है। देखना यह चाहिए कि कोई विधा किन-किन मोड़ों से गुजरती, सामाजिक संदर्भों से जुड़ती, कला-प्रतिमानों को चुनौती देती, उसे तोड़ती और नये-नये रूपों को गढ़ते आगे बढ़ती है। अगर हम इन चीजों को नजरअंदाज कर देंगे तो रचना का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते।”

इन बातों को शिद्दत के साथ महसूस किया था राजेन्द्र यादव ने। उन्होंने ‘एक दुनिया समानांतर’ की भूमिका में विस्तार से सामाजिक बदलाव की मानसिकता के बारे में लिखा था। नयी कहानी के लिए नये भाव बोध की चर्चा करते हुए उन्होंने नयी कहानी की भूमिका भी तैयार कर दी थी। इस भूमिका को आप नयी कहानी का ‘मेनीफेस्टो’ भी कह सकते हैं। कुछ लोग सुमित्रानंदन पंत द्वारा लिखित ‘पल्लव’ की भूमिका के साथ ‘एक दुनिया समानांतर’ की भूमिका की तुलना करते हैं। मैं तुलना की बात तो नहीं करता, मगर इतना तो तय है कि इस भूमिका ने नयी कहानी के लिए एक उर्वर जमीन अवश्य तैयार कर दी। फिर तो ‘नयी कहानी की भूमिका’ को लेकर कमलेश्वर सामने आये। इस तरह कथालोचना की एक नवीन भाषा

और दृष्टि विकसित हुई। मोहन राकेश अपनी छोटी-छोटी टिप्पणियों और अपने कथा संग्रह की भूमिका के जरिए अपनी बात स्पष्ट कर ही रहे थे। इन तीनों कथाकारों ने कथालोचना की दुर्बल स्थिति को मजबूत बनाया। सृजन के क्षेत्र में भी इन तीनों कथाकारों का कोई शानी नहीं था।

इन तीनों कथाकारों पर अपनी ही कहानियों की वकालत करने पर तरह-तरह के आरोप भी लगे। किंतु यह सच है कि ये लोग कथालोचना के खाली गैप को ही भर रहे थे। कहानी में संकेत, प्रतीक, आधुनिक कोण और आधुनिक भाव-बोध की बात तभी उभर कर सामने आई। मानव जीवन के प्रति सम्बद्धता और भोगे हुए यथार्थ की बात तभी उभरकर सामने आई। इस त्रयी के कारण एक बार पुनः प्रेमचंद और यशपाल की कहानियाँ ‘रेलीवेंट’ होने लगी। यह सब आधुनिक और नयी सोच की कहानियों की बदौलत घटित हो रहा था। हालांकि इन बातों का भी उस समय कम मजाक नहीं उड़ाया गया। बावजूद इसके हिंदी की नयी कहानी और कथालोचना, दोनों ही क्षेत्र में यह त्रयी (यादव-राकेश-कमलेश्वर) अपनी मजबूत स्थिति दर्ज कराती रही।

यहां मैं एक बात का स्मरण करा देना उचित समझता हूँ। हिंदी कथालोचना का दुर्भाग्य रहा है कि आज के दौर के अधिकांश रचनाकार और शोधार्थी इस बात से अवगत ही नहीं कि कभी प्रेमचंद-सुदर्शन और कौशिक की कथा-त्रयी कितनी मशहूर रही थी। आदर्शवाद, आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और साम्यवादी विचारों की चर्चा तभी उभरकर सामने आई थी। कौशिक की कहानी ‘पेरिस की नर्तकी’ में खुले शब्दों में कम्युनिस्ट नेता सावेलिए की भूमिका की प्रशंसा की गई है और भेजनी की दीवार ढहाकर फ्रांस के भीतर प्रवेश करने वाली हिटलर की सेना की निंदा। कथालोचना के क्षेत्र में ऐसी चीजें आज भी गायब हैं तो क्यों? आज के शोधार्थियों और विद्यार्थियों को इस बात का अन्वेषण करना चाहिए।

वैसे यह एक पुरानी कहावत है कि कोई भी जन-आंदोलन अपना गायक खुद पैदा करता है। नयी कहानी आंदोलन कोई जन-आंदोलन तो नहीं था, एक साहित्यिक आंदोलन था। मगर इस आंदोलन ने भी अपना एक गायक

(कथालोचक) पैदा किया। उनका नाम था, डॉ. देवीशंकर अवस्थी। कथालोचना के क्षेत्र में आज भी उन्हें सम्मानपूर्वक याद किया जाता है। हालांकि उनकी असामयिक मौत के कारण कथालोचना की स्थिति पुनः खराब हो गई। वैसे उनके द्वारा संपादित दो पुस्तकें 'नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति' और समीक्ष्य कृति 'विवेक के रंग' कथालोचना के प्रतिमान के रूप में आज भी हमारे बीच मौजूद हैं। दोनों ही किताब की भूमिका कथालोचना के क्षेत्र में मील का पत्थर है। साथ ही उनमें संकलित लेख और समीक्षा कथालोचना के लिए पाठ-सामग्री की तरह है। उनके इस काम को नजरअंदाज करके आप कथालोचना पर कोई बात ही नहीं कर सकते।

कथालोचना का यह सृजनात्मक सिलसिला लगातार दस-पन्द्रह वर्षों तक अबाध गति से चलता रहा। जब तक कि कहानी का ट्रेंड बदल नहीं गया। हालांकि इस बीच ही साठोत्तरी पीढ़ी की कहानियों का नया ट्रेंड चर्चा का विषय बन चुका था। काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन आदि कहानीकारों की चर्चा प्रारंभ हो चुकी थी। सचेतन कहानी की चर्चा को लेकर महीप सिंह सामने आये। अकहानी की बात को लेकर कालिया वगैरह सामने आये। मगर सच बात तो यह है कि नयी कहानी आंदोलन का जितना जोर सृजन पर था उतना ही ध्यान कथालोचना पर भी था। इसलिए इस काल में कथालोचना को लेकर जितने गंभीर काम हुए, उतना शायद बाद के दिनों में नहीं हो सका। निस्संदेह, इस काल में कथालोचना को लेकर हुए कार्य का श्रेय उस समय के कथाकारों और कथालोचकों दोनों को जाता है।

उस काल में कथालोचना को लेकर हुए महत्वपूर्ण कार्य की एक बानगी यहां प्रस्तुत की जा सकती है, जैसे- कहानी: स्वरूप और संवेदना (राजेन्द्र यादव), कहानी: संदर्भ और प्रकृति (देवीशंकर अवस्थी, संपादित), नयी कहानी की भूमिका (कमलेश्वर), आज की हिंदी कहानी: विचार और प्रतिक्रिया (मधुरेश), हिंदी कहानी: प्रक्रिया और पाठ (सुरेन्द्र चौधरी), हिंदी कहानी (इंद्रनाथ मदान), समकालीन कहानी: दिशा और दृष्टि (डॉ. धनंजय), हिंदी कहानी : अंतरंग पहचान (रामदरश मिश्र), नयी कहानी:

दशा, दिशा और संभावना (सुरेन्द्र), हिंदी कहानी: एक अंतरंग परिचय (उपेन्द्रनाथ अशक), कहानी: नयी कहानी (नामवर सिंह) आदि। इतना ही नहीं, उस दौर के जितने भी महत्वपूर्ण हस्ताक्षर थे, जैसे- शिवदान सिंह चौहान, लक्ष्मी नारायण लाल, मन्मथनाथ गुप्त, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अशक, देवीशंकर अवस्थी, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, प्रभाकर माचवे, नामवर सिंह, श्रीकांत वर्मा, विजयमोहन सिंह, चंद्रभूषण तिवारी, विमल वर्मा, सकलदीप सिंह, श्रीपत राय, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया आदि सभी ने मिलकर कथालोचना के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सात्र ने जब कहा था कि कहानी स्वयं में एक जनतांत्रिक विधा है तो उस समय लोगों को थोड़ा अजीब-सा लगा था। मगर कालांतर में जब हिंदी कहानी केंद्रीय विधा बनकर उभरी तो किसी को कोई शिकायत नहीं रह गई। हालांकि शिकायत करने वाले शिकायत करते ही रहे, मगर कहानी की विकास-यात्रा कभी थमी नहीं। देवीशंकर अवस्थी ने जब कहा था कि कहानी को भी कविता की तरह पढ़ी जा सकती है या पढ़ाई जा सकती है। यह बात भी उस समय कुछ लोगों को अजीब-सी लगी थी। मगर यह सच बात है कि इस कथन के जरिए कथालोचक का आत्म विश्वास ही बोल रहा था। आज कथालोचना की ऐसी बातों को लेकर कोई भ्रम की स्थिति नहीं है।

वैसे इस बात की ओर ध्यान दिलाना मैं आवश्यक समझता हूँ कि कथा और कथालोचना को लेकर जितनी उठा-पटक और खेमेबाजी की प्रवृत्ति इस काल में देखने को मिली, वह भी एक दिलचस्प पहलू है। उपेन्द्रनाथ अशक ने अपनी किताब 'हिंदी कहानी: एक अंतरंग परिचय' में उठा-पटक और खेमेबाजी वाली प्रवृत्ति पर बहुत ही बेबाक होकर लिखा है। बल्कि 'अंतर्कथा' शीर्षक आलेख में ऐसी-ऐसी बातों का उल्लेख है कि सामान्य पाठक को हैरत में पड़ जाना पड़ता है। निस्संदेह, यह प्रवृत्ति कथालोचना के लिए स्वास्थ्यकर नहीं कही जा सकती। अतः मेरा सुझाव है कि यह पुस्तक कथालोचना में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों एवं शोधार्थियों को अवश्य देखनी चाहिए।

जैसा कि ऊपर सीताकांत महापात्र ने कहा है- "सच्ची

आलोचना सच्ची क्रांति की तरह प्रेम से ही उत्पन्न होनी चाहिए, उच्छृंखलता और अंतर्विरोधों के बीच संतुलन और व्यवस्था स्थापित करने के प्रयास से। वरना जैसा कि हमने अपने अवसादपूर्ण समाज में देखा है कि आलोचना पागलपन या नकारवाद का दूसरा नाम बन जाती है। व्यवस्था और संतुलन का अभाव प्रारंभ से ही कथालोचना के क्षेत्र में देखने को मिलता है। इसकी साफ वजह यह है कि हमने अंग्रेजी क्रिटिसिज्म का अनुवाद आलोचना के नाम से तो जरूर कर लिया मगर सम+आलोचना की बात बहुत पीछे छोड़ दी। दृष्टि और संवेदना की जगह विभ्रम का एक मकड़जाल खड़ा किया। इस मकड़जाल में खुद तो उलझे ही, अन्य लोगों को भी उलझाया। आपको स्मरण करा देना वाजिब ही होगा कि चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'समालोचक' नाम से पत्रिका निकाली थी। समालोचना अपनी परंपरा से जुड़ा नाम था। इसमें सांस्कृतिक दाय की भावना थी। मगर आलोचना शब्द तो जैसे नकारवाद का पर्याय ही बन गया। इसका खामियाजा कबीर से लेकर मुक्तिबोध और गोरख

पांडेय तक को भुगतना पड़ा है।

इसलिए मेरा मानना है कि कुल मिलाकर बातचीत आलोचना पर ही केंद्रित होनी चाहिए। मस्तिष्क ही अगर बीमार होगा तो अन्य अंगों-उपांगों का क्या हाल होगा? इससे सभी लोग वाकिफ हैं। कभी हार्वर्ड फास्ट ने आलोचना में नैतिकता का सवाल उठाया था। निस्संदेह, यह एक वाजिब सवाल है। हिंदी में ऐसा कभी सोचा भी नहीं गया। हां, प्रगतिशीलता के दौर में दो खेमे जरूर बन गये—प्रगतिवाद और प्रतिक्रियावाद का। मगर इससे रचना और आलोचना का कितना भला हुआ, सोचने की बात है। मुक्तिबोध ने आलोचना को सांस्कृतिक कर्म यों ही नहीं कहा था। इसके पीछे कला और समाज से जुड़ी वह दृष्टि थी जो एक आलोचक को अपने दायित्व से गिराये बिना नीर-क्षीर विवेचन करने की ताकत देती है। अगर आज भी हिंदी आलोचना अहमन्यता का शिकार है तो साफ शब्दों में कहा जा सकता है कि यह अभी तक संस्कारित हुई ही नहीं है।

संपर्क:

बंगाली कॉलोनी, पो. बेगमपुर, पटना- 800009

मो. 09234763168

हिंदी कथा समीक्षा की पड़ताल

डॉ. अमरनाथ

हिंदी में कहानी तो बहुत पहले से लिखी जाती रही किन्तु कथा साहित्य की व्यवस्थित समीक्षा का विकास नयी कहानी आंदोलन के साथ ही हुआ। दरअसल स्वाधीनता के बाद नयी कहानी के रूप में एक ऐसा कहानी आंदोलन चला जिसने कहानी के पारंपरिक प्रतिमानों को नकार दिया और अपने मूल्यांकन के लिए नई कसौटिया निर्धारित कीं। सरस्वती प्रेस से भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में निकलने वाली 'कहानी' पत्रिका का 1956 में 'नव वर्षांक' प्रकाशित हुआ जिसमें अपने लेख 'आज की हिंदी कहानी' में नामवर सिंह ने पहली बार सवाल उठाया कि 'नयी कविता की तरह नयी कहानी नाम की भी कोई चीज है या नहीं?' सन् 1960 में 'नई कहानियाँ' नामक पत्रिका का संपादन शुरू हुआ जिसका संपादन भैरव प्रसाद गुप्त कर रहे थे। 1961 में इसके विशेषांक में राजेन्द्र यादव ने 'आज की कहानी: परिभाषा के नए सूत्र' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा कि, 'कथाकार व्यक्ति को उसकी समग्रता में देखने का आग्रह करता है। व्यक्ति को उसके सामाजिक परिवेश, मानसिक अंतर्द्वन्द्वों तथा व्यावहारिक जीवन के तकाजों और आवश्यकताओं की एक संश्लिष्ट प्रक्रिया के रूप में पाना उसका लक्ष्य है।' 1961 में 'नई कहानियाँ' पत्रिका में 'हाशिये पर' स्तंभ के अंतर्गत नामवर सिंह ने नई कहानियों का अलग-अलग विश्लेषण किया। नयी कहानी के आंदोलनकारियों ने, जिनमें राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर के नाम प्रमुख हैं, ने बदले हुए यथार्थ और नए अनुभव संबंधों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति पर बल दिया। नए कहानीकारों ने परिवेश की विश्वसनीयता, अनुभूति की प्रामाणिकता और अभिव्यक्ति की ईमानदारी का प्रश्न उठाया और आग्रह किया कि नयी कहानी अपने युग सत्य से सीधे जुड़ी हुई है जिसका मूल उद्देश्य है पाठक को उसके समकालीन यथार्थ से, यथार्थ रूप में परिचित कराना। राजेन्द्र यादव ने 'एक दुनिया समानान्तर' नामक पुस्तक का संपादन करके नई कहानी का एक प्रामाणिक संग्रह प्रस्तुत किया। नयी कहानी से जुड़ा 'नयी' शब्द पहले की कहानी से मात्र पार्थक्य स्पष्ट करने के लिए ही नहीं प्रयुक्त हुआ, बल्कि उसके पीछे कहानी की नयी संवेदना, नयी दृष्टि और नये रूप बंध को रेखांकित करने की भावना थी। महानगरीय, कस्बाई एवं ग्रामीण जीवनबोध, जटिल जीवन यथार्थ की व्यापक स्वीकृति, व्यक्ति की प्रतिष्ठा, आधुनिकता बोध, सांकेतिकता, ऐतिहासिक मोहभंग, मध्यवर्गीय जीवन का मार्मिक अंकन, सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों के बिखराव और निर्मिति की सही पहचान, नवीन भाषा शिल्प आदि नयी कहानी की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

नयी कहानी में स्थूल कथानकों के स्थान पर सूक्ष्म कथातंतुओं को प्रधानता मिली, सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता का प्राधान्य हुआ। नए कहानीकारों ने कहानी का नया आलोचना शास्त्र तैयार करने की पहल की और नामवर सिंह ने 'कहानी : नयी कहानी' पुस्तक के माध्यम से

नयी कहानी के मूल्यांकन की कसौटियां रेखांकित की। इसी दौर में प्रकाशित कमलेश्वर की 'नयी कहानी की भूमिका', देवीशंकर अवस्थी द्वारा संपादित 'नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति', राजेन्द्र यादव की 'कहानी: स्वरूप और संवेदना' जैसी पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं।

सातवें दशक के आरंभ होने के साथ ही नयी कहानी आंदोलन की आंदोलनात्मक प्रतिक्रियाएँ 'सचेतन कहानी' और 'अ-कहानी' के रूप में सामने आयीं। निर्मला जैन के शब्दों में, "सचेतन कहानी का नारा देने वाले कहानीकारों ने कहानी संबंधी किसी नयी दृष्टि या समझ का प्रमाण देने की बजाय कुछ लेखकों के द्वारा सामूहिक रूप से एक नारे की आड़ में अपने को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न का आभास ही अधिक दिया। इनमें प्रायः, ऐसे लेखक शामिल थे जो नई कहानी में सम्मिलित न हो सके थे। इनमें महीप सिंह, मनहर चौहान, रवीन्द्र कालिया और गंगा प्रसाद विमल ने अ-कहानी का झंडा उठाकर नयी कहानी की तुलना में अपनी अत्याधुनिकता की घोषणा की। इसमें संदेह नहीं कि अ-कहानी की बात उठाकर इस वर्ग के लेखकों ने कहानी में कथानक का विरोध किया, अपने कथ्य में ये निश्चय ही नये कहानीकारों की अपेक्षा कहीं अधिक साहसी दिखायी पड़े, किंतु अत्याधुनिकता की दावेदारी के अतिरिक्त कथा समीक्षा का कोई ठोस और टिकाऊ सिद्धांत इनकी विरोध प्रक्रिया के माध्यम से सामने नहीं आया। परिणामतः यह आंदोलन भी टिक न सका।" (हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी, पृष्ठ-97)

उपन्यास भी कथा साहित्य की प्रमुख विधा है जो अपेक्षाकृत नवीन है। कहानी तो पहले श्रव्य थी किन्तु उपन्यास कभी भी श्रव्य नहीं रहा। पाठक उपन्यास की बुनियादी जरूरत है। हिंदी में प्रेस की स्थापना के साथ उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में उपन्यास लेखन की शुरुआत हुई। जाहिर है, रचना के साथ ही आलोचना की शुरुआत भी हो जाती है किंतु यहां उपन्यास समीक्षा के लिए हमने वही समय निर्धारित किया है जो कहानी समीक्षा के लिए क्योंकि नयी कहानी के साथ ही उपन्यास के क्षेत्र में भी इस दौर में नए-नए प्रयोग हुए और उपन्यास का दायरा इतना बढ़ा कि वह साहित्य की केंद्रीय विधा के रूप

में स्थापित हो गया। यद्यपि इसके पहले ही प्रेमचंद ने कहानी की तरह ही उपन्यास को अपनी लेखनी से शीर्ष तक पहुंचा दिया था। इसके बावजूद औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्ति के बाद हिंदी उपन्यास के सामने नवीन यथार्थ का एक ऐसा नवीन परिदृश्य उपस्थित हुआ कि उसमें बहुमुखी विचरण की अनंत संभावनाएं थीं। आजादी के बाद अपने विगत छः दशकों में उपन्यास ने देश के बदलते हुए जीवन के यथार्थ को उसके पूरे विस्तार, वैविध्य और संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त किया है। समकालीन यथार्थ का शायद ही कोई पक्ष हो जिसे उपन्यास विधा ने अंकन न किया हो। किसानों, दलितों, स्त्रियों, आदिवासियों आदि का जीवन तो आज के उपन्यास के केन्द्र में है ही, किंतु इसके साथ ही कला, साहित्य, पत्रकारिता, परिसर की विकृतियां, राजनीति में आयी गिरावट, मूल्यहीनता आदि के साथ ही इतिहास, पुराण आदि सभी को उपन्यास ने अपने आगोश में ले लिया है।

जिस प्रकार नयी कहानी की समीक्षा के लिए नये मानदंडों की जरूरत महसूस हुई उसी तरह उपन्यास के क्षेत्र में भी हुए नये प्रयोगों के साथ ही उपन्यास समीक्षा की नई पद्धति के विकास की जरूरत महसूस की जाने लगी। रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल', अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' आदि की समीक्षा पुराने और घिसे पिटे मानदंडों पर संभव नहीं थी। इन्हीं कारणों से नेमिचंद्र जैन ने 'हिंदी उपन्यास की एक नई दिशा' शीर्षक देकर 'मैला आंचल' की समीक्षा की तथा निर्मल वर्मा ने 'कथा शिल्प का नया प्रयोग' शीर्षक देकर 'परती परिकथा' का मूल्यांकन किया। इन समीक्षाओं से इस बात का संकेत मिलता है कि कहानी की तरह उपन्यास के लिए भी कथानक, चरित्र-चित्रण, देश-काल, वातावरण आदि के पुराने बने बनाए मानदंड अप्रभावी हो चुके थे।

इस तरह उपन्यासों की शिल्प-विधि में हो रहे विकास के साथ ही उसकी समीक्षा पद्धति में भी विकास अवश्यम्भावी हो गया था। यही कारण है कि उस दौर में समीक्षकों ने समीक्ष्य उपन्यासों को ध्यान में रखकर ही अपनी समीक्षा पद्धति में नए प्रयोग किए, जैसे देवीशंकर अवस्थी ने 'चारुचंद्र लेख' की समीक्षा 'एक टूटा दर्पण' शीर्षक से की, 'अंधेरे बंद कमरे' की समीक्षा श्रीकांत वर्मा ने 'दूसरों

का नरक' नाम से की और 'झूठा-सच' की समीक्षा कुँवरनारायण ने 'कवि-दृष्टि का अभाव' नाम से की। इस तरह उपन्यास की समीक्षा का नया तेवर इसी कालखंड में दिखायी देता है।

कथा समीक्षा को व्यवस्थित रूप और गति देने वालों में नामवर सिंह का नाम अग्रणी है। वे मार्क्सवादी आलोचना परंपरा के सर्वाधिक चर्चित आलोचकों में हैं। 'कहानी: नयी कहानी' नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने नयी कहानी के मानदंडों की विस्तार से चर्चा की है। पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं, "हिंदी आलोचना जो अभी तक काव्य-समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा, नाटक आदि साहित्य रूपों का विधिवत विश्लेषण करके ही अपने को सुसंगत एवं समृद्ध बना सकती है... इसीलिए मेरे निकट उनका महत्व केवल कहानियों की समीक्षा तक सीमित न होकर एक व्यापक समीक्षा पद्धति के निर्माण की दिशा में है।" निस्संदेह नामवर सिंह की कहानी संबंधी आलोचना हिंदी आलोचना की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

राजेन्द्र यादव नई कहानी के सिद्धांतकारों में पहले स्थान पर रखे जा सकते हैं। उनकी पुस्तक 'कहानी: स्वरूप और संवेदना' तथा 'एक दुनिया समानान्तर' की 72 पृष्ठों की लंबी भूमिका ने नयी कहानी को प्रतिष्ठित होने में बड़ी मदद की। राजेन्द्र यादव नयी कहानी को मूलतः संबंधों की कहानियाँ मानते हैं जिनकी प्रभावान्विति पुरानी कहानी की तरह अंत के लिए सुरक्षित नहीं रखी जाती बल्कि वह पूरी कहानी में व्याप्त रहती है। राजेन्द्र यादव ने अपनी पत्रिका 'हंस' के माध्यम से नयी कहानी आंदोलन को हमेशा चर्चा में बनाए रखा। वे खास तौर पर स्त्री विमर्श को उसके अतिवादी रूप तक ले जाने के लिए भी सदा याद किए जाएंगे।

नयी कहानी को सैद्धांतिक मर्यादा देने वालों में महान कथाकार कमलेश्वर की प्रमुख भूमिका है। उनकी पुस्तक 'नयी कहानी की भूमिका' में नयी कहानी की बनावट, उसके शिल्पविधान से लेकर पहले की कहानी से उसकी भिन्नता की विस्तार से चर्चा है। नयी कहानी के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए वे अपनी पुस्तक 'खोई हुई दिशाएं' की भूमिका में लिखते हैं, "पुरानी कहानी में व्यक्ति शारीरिक

रूप से आता था और वैचारिक रूप से कथाकार- नयी कहानी में यह विचार उसी शरीर में अवस्थित बुद्धि से उपजता है जिसे प्रस्तुत किया जाता है... तब विचारों को हाड़-मांस प्रदान किया जाता था। अब हाड़-मांस के इंसान के विचारों को भी प्रस्तुत किया जाता है।"

कथा समीक्षकों में सुरेन्द्र चौधरी का स्थान भी महत्वपूर्ण है। 'कहानी: पाठ और प्रक्रिया' तथा 'फणीश्वरनाथ रेणु' शीर्षक से साहित्य अकादमी के लिए उनके द्वारा लिखा गया मोनोग्राफ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अमरकांत और रेणु उनके प्रिय कहानीकारों में हैं जिन पर उन्होंने गंभीर समीक्षाएं लिखी हैं। सुरेन्द्र चौधरी प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े रहे हैं। मार्क्सवाद और साहित्य के अंतर्संबंध पर उन्होंने काफी विचार किया है। मैनेजर पांडेय ने सुरेन्द्र चौधरी की समीक्षा पर विचार करते हुए लिखा है, "सुरेन्द्र चौधरी, नामवर सिंह के साथ नयी कहानी के समर्थ आलोचक ही नहीं, बल्कि एक तरह के पूरक भी हैं। वह इसलिए कि नामवर सिंह ने उस दौर के जिन कहानीकारों पर नहीं लिखा उन पर सुरेन्द्र चौधरी ने विस्तार से और मनोयोग के साथ लिखा है, वे कहानीकार हैं- रेणु, मुक्तिबोध, अमरकांत, भीष्म साहनी और हरिशंकर परसाई। इन कहानीकारों पर लिखकर सुरेन्द्र चौधरी ने नयी कहानी की प्रगतिशील परंपरा की उपलब्धियों का मूल्यांकन किया है और हिंदी कहानी की आलोचना को पूर्णता प्रदान की है।"

निर्मल वर्मा की ख्याति कथाकार के रूप में है किंतु उन्होंने समीक्षाएँ भी लिखी हैं। 'शब्द और स्मृति', 'कला का जोखिम', 'ढलान से उतरते हुए', 'भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र', 'दूसरे शब्दों में', 'आदि अंत और आरंभ' आदि उनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। रेणु, मुक्तिबोध और मलयज आदि पर उन्होंने गहरी संवेदना के साथ लिखा है। संस्कृति और आलोचना का गहरा रिश्ता उनकी आलोचना की प्रधान विशेषता है। विदेशों में लंबा प्रवास और यूरोपीय साहित्य चिंतन पर असर उनकी आलोचना में साफ झलकता है। नयी कहानी आंदोलन में देवीशंकर अवस्थी की बड़ी भूमिका रही है, बहुत कम उम्र में वे दिवंगत हो गए। 'नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति' नामक अकेली पुस्तक से उन्होंने कथा समीक्षा के क्षेत्र में

अपनी खास जगह बना ली है।

गोपाल राय ने 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' लिखकर तथा लंबे समय तक 'समीक्षा' नामक पत्रिका का संपादन कर के कथा समीक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण मुकाम हासिल कर लिया है। 'उपन्यास का शिल्प और अज्ञेय के उपन्यास' उनकी अन्य महत्वपूर्ण आलोचना पुस्तक है। यद्यपि अपनी पुस्तक 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' में उन्होंने हिंदी की अधिकांश औपन्यासिक कृतियों पर अपनी प्रतिक्रिया दी है किंतु 'गोदान', 'रंगभूमि', 'मैला आंचल', 'शेखर: एक जीवनी', 'दिव्या' आदि पर उन्होंने विस्तार से लिखा है। गोपाल राय शोधाभिमुख आलोचक हैं। उनकी आलोचनाएं सूचनापरक अधिक हैं। औपन्यासिक शिल्प को गोपाल राय खास महत्व देते हैं इसीलिए सार्थक शिल्प प्रयोग की दृष्टि से वे हजारी प्रसाद द्विवेदी, रेणु, नागार्जुन आदि को अधिक महत्व देते हैं। 'कहानी की बात' मार्कण्डेय की चर्चित आलोचना पुस्तक है। नये कविता के समीक्षकों की तरह वे कहानी के प्रतिमान जीवन से ग्रहण किए जाने पर बल देते हैं। उन्होंने अमरकांत, भीष्म साहनी और शेखर जोशी की कहानियों को मुख्य रूप से आधार बनाकर नयी कहानी के सकारात्मक तत्वों की व्याख्या की है। विजयमोहन सिंह एक कथाकार भी हैं और आलोचक भी। आलोचक के रूप में विजयमोहन सिंह का विकास नयी कहानी आंदोलन के बाद की परिघटना है। 'अज्ञेय: कथाकार और विचारक', 'हिंदी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना', 'आज की कहानी' 'कथा-समय', 'उपन्यास की कहानी', 'आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य', 'विकास और विश्लेषण' आदि उनकी प्रमुख आलोचना पुस्तकें हैं। 'आज की कहानी' में चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, मन्नू भंडारी, अमरकांत, शेखर जोशी आदि की कहानियों की विस्तृत समीक्षा की गयी है जबकि 'कथा समय' में प्रसाद, रेणु अमरकांत आदि की। इसी पुस्तक के दूसरे खंड में उन्होंने कुछ चुने हुए उपन्यासों की समीक्षा की है जिनमें 'जिन्दगीनामा', 'कसप', 'दूसरी तरफ', 'बेघर' आदि की समीक्षाएँ उल्लेखनीय हैं। जनवादी कहानी की अवधारणा और उसकी प्रतिष्ठा में मुख्य भूमिका

निभाने वाले रमेश उपाध्याय जनवादी लेखक संघ से आरंभ से ही जुड़े रहे हैं। 'जनवादी कहानी : पृष्ठभूमि से पुनर्विचार तक' उनकी इस विषय पर एकमात्र पुस्तक है। उन्होंने 'कथन' नामक पत्रिका का अनेक वर्षों तक संपादन किया है और आज भी उससे जुड़े हुए हैं। जनवादी कहानी की प्रतिष्ठा में 'कथन' का खास योगदान रहा है। उन्होंने जनवादी लेखक संघ की स्थापना अर्थात् 1982 को अपना प्रस्थान बिन्दु बनाकर जनवादी कहानी की प्रकृति और अंतर्वस्तु का विस्तृत विश्लेषण किया है। उनकी पुस्तक में गोष्ठियों की रपटों, घोषणा पत्रों और लेखकों के वक्तव्यों आदि के रूप में प्रचुर सामग्री संकलित है। जनवादी कहानी की अवधारणा और उसके मूल्यांकन में इस सामग्री का पर्याप्त महत्व है। समकालीन कथा समीक्षकों में पुष्पपाल सिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। 'समकालीन कहानी: रचना मुद्रा', 'कमलेश्वर की कहानी का संदर्भ', 'समकालीन कहानी : युगबोध का संदर्भ', 'समकालीन हिंदी कहानी', 'कहानी का उत्तर समय' आदि उनकी कथा केन्द्रित आलोचना पुस्तकें हैं। पुष्पपाल सिंह की अधिकांश आलोचना या तो शोधकार्य के रूप में हैं या फिर अकादमियों और संस्थानों के लिए लिखे गए लेखन के रूप में। कथा समीक्षकों में बटरोही का भी विशिष्ट स्थान है। 'कहानी : रचना प्रक्रिया और स्वरूप', 'हिंदी कहानी: 15 पग-चिह्न' तथा 'कहानी: संवाद का तीसरा आयाम' उनकी प्रमुख आलोचना पुस्तकें हैं। इनमें 'कहानी: संवाद का तीसरा आयाम' स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी संबंधी उनके लेखों का संग्रह है। वीरेन्द्र यादव नए प्रतिभा-संपन्न कथा समीक्षक हैं। 'आलोचना', 'कथा', 'तद्भव', 'पहल', 'हंस' आदि में लगातार उनकी कथा समीक्षाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। शंभु गुप्त की पुस्तक 'कहानी: वस्तु और अन्तर्वस्तु' में कहानी की समीक्षा के लिए प्रतिमानों की तलाश की गई है।

इसके अलावा भी कई महत्वपूर्ण समीक्षक कथा समीक्षा को समृद्ध कर रहे हैं। जिनमें नमिता सिंह, नरेन्द्र मोहन, आनंद प्रकाश, रघुवीर सिन्हा, शकुंतला सिन्हा, ललित कार्तिकेय, सत्यकाम, जितेन्द्र श्रीवास्तव आदि का नाम उल्लेखनीय है।

संपर्क: ईई 164/402, सेक्टर-2, साल्टलेक, कोलकाता-700091, मो. 9433009898

‘मत कहो आकाश में कुहरा घना है,’ पर यही हिंदी कथा-आलोचना है!

पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’

हिंदी में कहानी की आलोचना-स्थिति और उसके आलोचकों के प्रदेय पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना जरूरी है कि आखिर कोई भी कहानी निस्संग रूप में आलोचकों से पाठक तक पहुँचने और पहुँचाये जाने की कैसी पाठ-प्रक्रिया की अपेक्षा रखती है? क्या वह विचारधारा की बाड़ेबंदी में कैद किया जाना पसंद करती है या वह अपनी प्रवृत्तिपरकता और संदेशपरकता का ‘प्रोपेगंडा’ चाहती है या वह आदर्शवादिता, यथार्थपरकता और मूल्य-मीमांसा के नजरिये से अपनी महत्ता और श्रेष्ठता को स्थापित करवाना चाहती है या उसकी कथाभूमि पर भाषा का जो ‘वेसकैम्प’ कहानीकार ने लगाया है, वह उसकी पड़ताल चाहती है? यही नहीं, आलोचकों से कहानी के पाठकों की भी क्या यही या ऐसी ही कुछ अपेक्षा रहती है?

प्रसिद्ध भाषाचिंतक विट्गेंस्टाइन (Wittgenstein) ने कहा है कि किसी भी कृति में जो कहा गया है, उसमें जो अनकहा निहित है, वह अपने अनकहेपन में अवश्य मुखर होगा। निर्मल वर्मा के शब्दों में “जो कलाकृति कहती है, उसमें वे अकथनीय सत्य भी शामिल होते हैं, जो अपनी चुप्पी के बावजूद उसमें मौजूद रहते हैं। आलोचक की यह एक बड़ी चुनौती है कि क्या वह कलाकृति के कथ्य से उसके अकथ्य को, उसकी भाषा से उसके मौन को, दो शब्दों में कहें तो उसकी सतह से उसकी गहराई को उजागर कर पाती है या नहीं?” (शताब्दी के ढलते वर्षों में, नयी दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1995, पृष्ठ-44) पाठकों की भी यही अपेक्षा रहती है कि आलोक कहानी के अर्थ-गह्वर (Semantic enclave) में प्रवेश करे, इसके लिए गोताखोरी करे और कहानी की साभिप्रायता के बारे में एक चामत्कारिक रहस्योद्घाटन (Revelation) करे। आलोचक का धर्म दायित्व भी यही है। पर इसके लिए “उसमें इतना नैतिक साहस और विवेक होगा (होना चाहिए) कि वह अपने अस्त्रों और विश्वासों को अनुपयुक्त मान कर छोड़ दे और आलोचकों के ऐसे औजारों का निर्माण करे, जो उस कलाकृति के अपरिचित संसार की अर्थवत्ता को नये सिरे से परिभाषित करने में सक्षम हो सके।” (उपरोक्त, पृष्ठ-54) निस्संदेह कहानी की समकालीन आलोचना में इसका अभाव रहा है और है। डॉ. नामवर सिंह ने भी इस तथ्य को अपने द्वारा दिये गये एक साक्षात्कार में अपने ढंग से स्वीकार किया है कि कोई भी मार्क्सवादी आलोचक किसी भी साहित्यिक कृति को केन्द्र में रखकर अब तक उसका विश्लेषण नहीं कर सका है। अच्छा तो यह होगा कि हम कुछ ठोस कहानियों पर बातचीत करते। हो यह रहा है कि ज़्यादातर बहस सामाजिक यथार्थ और जीवन पर होती है, कहानी की रचना-प्रक्रिया पर कम।” (कहानी कहाँ बनती है, कहना न होगा, सम्पादक: समीक्षा ठाकुर, नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1999, पृष्ठ 135)

यह बताने की जरूरत केवल यह याद कराने के लिए है कि हिंदी कहानी की आलोचना अपने आरंभ में कहानी के तत्त्वों—कथावस्तु, पात्र, देश—काल, भाषा और सोद्देश्यता—पर आधारित थी। पर इससे कहानी के अर्थ—गह्वर या सार्थकता के तिलिस्म तक पहुँचना तो बहुत दूर था, गह्वर के मुँह पर लगे समय के चट्टानी हिमखंड को भी पिघलाया नहीं जा सका। यहाँ यह स्मरणीय है कि तब कहानीकार प्रेमचंद ने भी अपने ‘साहित्य और समालोचना’ शीर्षक निबंध में इस बात पर खेद व्यक्त किया कि तब हिंदी के तत्कालीन श्रेष्ठ कथा—साहित्य पर भी ‘गहरी, व्यापक, तात्त्विक आलोचना’ नहीं लिखी जा पा रही थी। (साहित्य का उद्देश्य) बाद में शायद इसीलिए कहानी की आलोचना के इस तरीके को खुल्लम खुल्ला नकारा भी गया। हाँ, इसके बाद में हिंदी कहानी की समकालीन आलोचना ने समय की इस बर्फ को पिघलाने का प्रयास अवश्य किया। पहली बार यही हिंदी कहानी की चालू परिपाटी पर प्रश्न खड़े किए गए और कहानी की आलोचना के लिए नये मार्ग और नये औजार तलाशने और तैयार करने की दिशा में हलचल भी शुरू हुई। यह नयी कहानी का दौर था। कहानी आलोचना के क्षेत्र में नयी कहानी की पहचान और परख करने के लिए जो आलोचक सक्रिय हुए उनमें डॉ. नामवर सिंह, डॉ. इंद्रनाथ मदान, डॉ. देवीशंकर अवस्थी, डॉ. सुरेन्द्र चौधरी, डॉ. धनंजय वर्मा उल्लेखनीय हैं। साथ ही कुछ सर्जकों ने भी कहानी की आलोचना प्रस्तुत की। इनमें राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश प्रमुख हैं। यहाँ कहानी की आलोचना में सर्वाधिक बल इस बिंदु पर रहा कि नयी कहानी अपने पहले की कहानी से किस तरह अलग है, कैसे मूल्यों में परिवर्तन हुआ है। यहाँ बल विभेदकता और तुलनात्मकता पर रहा। पारिवारिक, सामाजिक संबंधों में बदलाव, अकेलापन, संत्रास, मृत्युबोध और जिजीविषा को कहानियों में रेखांकित, उद्घाटित और विवेचित किया गया है। कहानियों का मूल्यांकन प्रवृत्तियों के आधार पर भी किया गया। पर इन सभी आलोचकों में डॉ. नामवर सिंह और डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने हिंदी कहानी की जेन्युइन आलोचना की चिंता की। डॉ. नामवर सिंह ने कहानी की बुनियादी समझ की बात उठाई और कहानी की

आलोचना में सार्थकता के महत्त्व को रेखांकित किया। चेखव और निर्मल वर्मा की कहानियों से कुछ अंश लेकर इसे स्पष्ट करने का भी प्रयास किया। इस संदर्भ में ‘कहानी’ (संपादक: श्रीपत राय) पत्रिका के एक अंक में छपी एक नवोदित कथाकार की एक कहानी में भी सार्थकता का दृष्टांत दिया। पर सार्थकता की दृष्टि से नामवर जी ने हिंदी की किसी पूरी कहानी का विश्लेषण—विवेचन नहीं किया और न उसमें ज्ञापित सार्थकता का ही उद्घाटन किया। वे यह भी नहीं बता सके कि आखिर कहानी की सार्थकता—साभिप्रायता को उद्घाटित—विवेचित करने के लिए कहानी की आलोचना के औजार या कि प्रतिमान क्या होंगे और इसकी प्रविधि क्या होगी? कहानी की आलोचना के क्षेत्र में उनकी ‘कहानी : नई कहानी’ पुस्तक का विशिष्ट महत्त्व है। डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने कविता के मॉडल पर कहानी की आलोचना का निषेध किया। वे कहानी के मनोविज्ञान की ओर मुड़े। इस दृष्टि से उन्होंने एक कथा—संकलन भी तैयार किया। पर कहानी की आलोचना की अभीष्ट मार्ग का निर्देश वे नहीं कर पाये। कहानी की आलोचना के क्षेत्र में, विशेषतः ‘नई कहानी’ के लिए उनकी ‘नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति’ पुस्तक पठनीय है। यह दुखद रहा कि हिंदी कहानी की आलोचना को विकसित करने की दिशा में प्रयत्नशील इस आलोचक का 1964 में आकस्मिक निधन हो गया। पर जैसी कहानीकार उदय प्रकाश की मान्यता है, “उनकी आलोचना में कहानी की आलोचना के संभावित विकास के बीज मौजूद थे।” (देवीशंकर अवस्थी, ईश्वर की आँख, नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1999, पृ. 222)

पर हिंदी कहानी के इन आलोचकों ने कहानी की आलोचना को न तो वह ऊँचाई दी और न ही वह गहराई, जो हिंदी आलोचना को काम्य थी और न इस विमर्श को गतिशीलता का नैरन्तर्य ही प्रदान किया। “हिंदी में कविता—केन्द्रित आलोचना की तुलना में वैसे भी कथा—आलोचना की कोई निश्चित शास्त्रीय प्रणाली या पद्धति नहीं थी। लेकिन ‘विवेक के रंग’, ‘कहानी : नयी कहानी’, ‘एक दुनिया समानान्तर’, ‘कहानी : प्रकृति और पाठ’ जैसी किताबों के मार्फत इसकी एक धुँधली—सी रूपरेखा बनती हुई दिखाई पड़ने लगी थी। जरूरत उसे एक रचनाशास्त्र या

समीक्षा-पद्धति या किसी निश्चित प्रणाली में बदलने की थी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और इससे जो ज़बरदस्त नुकसान हुआ, वह आलोचना का नहीं, कहानी का हुआ।” (उदय प्रकाश, ईश्वर की आँख, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1999, पृ 260)

डॉ. नामवर सिंह कहानी की आलोचना को विकसित नहीं कर पुनः कविता की ओर मुड़ गये। उनके और देवीशंकर अवस्थी के बाद यह वैचारिक ऊष्मा ठंडी पर गयी। केवल कहानी पुस्तकों पर समीक्षा लेख छपते रहे। इसके दो-ढाई दशकों बाद हिंदी में भूमंडलीकरण (Globalization), उत्तर उपनिवेशवाद (Post-Colonialism), बाजारवाद और उपभोक्तावाद पर विमर्श आरंभ हुआ। सत्तरोत्तर दशक की कहानियों की आलोचना इनके आधार पर की जाने लगी। इसमें यह दिखाने का प्रयास किया जा रहा था कि कहानी विशेष में इन वादों के तत्त्व कहाँ-कहाँ हैं और कौन-कौन से पात्र इन तत्त्वों और विचारों से व्यापारित-प्रभावित हो रहे हैं। इस नजरिये से स्वयं प्रकाश और संजीव की कहानियों पर विशेष विमर्श किया गया। समाज-सांस्कृतिक धरातल पर इनसे उत्पन्न विडंबनाओं को भी उभारा गया, पर इस कारण समाज, राजनीति और अर्थशास्त्र के पारिभाषिक कहानी की आलोचना में तो धड़ल्ले से चालू हो पड़ी, पर आलोचकों के सारे विमर्श में कहानी ही हाशिये पर चली गयी। वह सार्थकता-साभिप्रायता का सवाल कहानी की इस पद्धति की आलोचना में दबा और अनसुना ही रह गया। इसके साथ ही हिंदी आलोचना में तीन और विमर्श भी उभरे— 1. स्त्री विमर्श (Feminism) 2. दलित विमर्श (Dalit literature) और तीसरा है आदिवासी या जनजाति विमर्श (Tribal literature) कहानी की अद्यतन हिंदी आलोचना इन विमर्शों से भरी पड़ी है। स्त्री विमर्श के बीच पुरुष सत्ताधर्मी परिवार और समाज में स्त्री पर होने वाले अत्याचार, आर्थिक और शैक्षिक असमानता तथा यौन-स्वच्छंदता जैसे मुद्दों को लेकर स्त्री-सशक्तीकरण को लेकर हिंदी की आलोचना देखने को मिलती है। कहानी की आलोचना यहाँ स्त्री विमर्श परक आलोचना हो जाती है जिसकी आलोचना का मुख्य क्षेत्र स्त्री कहानीकारों द्वारा लिखित कहानियाँ होती हैं। दलित

विमर्श में दलितों द्वारा लिखित कहानियों की आलोचना समाज-राजनीतिक संदर्भों में की गई हैं और जनजाति-विमर्श में जनजाति की उपेक्षाओं और उनकी समस्याओं को केन्द्र में रखकर लिखी गई कहानियों की आलोचना इसी धरातल पर की गई है। इस दौर में कहानी की आलोचना निष्प्राण हुई है। वह भिन्न-भिन्न रूपों और वर्गों में बँटी है और सतही बनकर रह गयी है। यद्यपि कहानी आज हिंदी साहित्य की केन्द्रीय विधा नहीं है पर हिंदी के पाठकों की यह आशा किसी भी रूप में बेमानी नहीं कही जा सकती है कि कहानी के आलोचक हिंदी में कहानी की पाठ-प्रक्रिया को विकसित करें। और अपने-अपने युगों की महत्वपूर्ण कहानियों की साभिप्रायता का उद्घाटन भी करें। केवल यह रोने-गाने से कि “हिंदी कहानी की आलोचना का विकास नहीं हुआ। वह दरिद्र और अल्पविकसित रह गयी” — हम हिंदी कहानी की आलोचना को अग्रोन्मुख नहीं कर सकते। आज हिंदी कहानी को गंभीर और प्रबुद्ध पाठक की आवश्यकता है, जो कहानी की साभिप्रायता के गह्वर में प्रवेश कर सके, उसकी आंतरिक संरचना में झाँक सके। ऐसे प्रबुद्ध पाठकों से ही हिंदी कहानी को समर्थ आलोचक मिल सकेंगे। दूसरे, साहित्य की दूसरी विधा के आलोचकों, यथा- उपन्यास के आलोचकों को भी कहानी की आलोचना में भी दिलचस्पी लेनी चाहिए। पश्चिम में एक-एक कहानी की आलोचना कई-कई आलोचकों ने की है और अपनी-अपनी पाठ प्रविधि और आलोचकीय दृष्टि से उसमें गर्भित कथा-सत्य को उद्घाटित करने का सार्थक प्रयास तक किया है। एडगर एलेन पो की एक कहानी है— ‘The Purloined letter’ ‘द पल्लोइंड लेटर।’ इसकी आलोचना जहाँ संरचनावादी मनोविज्ञानी आलोचक जॉक लेकाँ (Lacan) ने की है, वहीं इसकी आलोचना विसंरचनावादी आलोचक जॉक देरिदा (Derrida) ने भी की है। दोनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसकी सार्थकता और साभिप्रायता को उद्घाटित किया है। दोनों की अपनी-अपनी पाठ-प्रक्रिया है। यहाँ कहानी की आलोचना पाठ (कहानी)– केन्द्रित है। हिंदी में भी अब कहानी-आलोचना के क्षेत्र में प्ररूपपरक (Typological), प्रवृत्तिपरक, मूल्यपरक आलोचना को

छोड़कर पाठ-केन्द्रित किसी एक कहानी-विशेष पर केन्द्रित होकर विश्लेषण और उसकी सारगर्भित विवेचन करने की अपेक्षा है।

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में हिंदी की दो विशिष्ट कहानियों की पाठ-केन्द्रित आलोचना प्राप्त होती है। ये हैं प्रेमचंद की 'मंत्र-1' शीर्षक कहानी और उदयप्रकाश की 'वारेनहेस्टिंग्स का साँड़' शीर्षक कहानी केवल दो कहानियाँ! प्रेमचंद अपनी कहानियों में प्रोक्ति (Discourse)-संरचना के कथाकार हैं। पर उनकी कहानियों की सहजता-सरलता और बाह्य संरचना की अभिव्यक्तिकता उनको इतना बोधगम्य बना देती है कि पाठकों को कौन कहे, उनके कथा-साहित्य के ख्यातिलब्ध आलोचक तक यह सोच नहीं पाते कि उनकी कहानियों में एक समान्तर गहन संरचना भी चल रही है और उसी में उसकी सार्थकता और साभिप्रायता निहित है, न ही उनकी अन्तर्दृष्टि वहाँ तक पहुँच पाती है। हिंदी कथा-साहित्य में प्रेमचंद के आलोचकों में डॉ. रामविलास शर्मा, मधुरेश और रमेश उपाध्याय जैसे आलोचकों को इस कहानी में दोष-ही-दोष नज़र आये हैं और इस कहानी की आंतरिक संरचना का वह अभिप्रेत अर्थ उनकी पहुँच से बाहर रह गया है, जो इस कहानी के साथ-साथ इसके कहानीकार को भी उत्कर्ष और श्रेष्ठत्व प्रदान करता है। किसी कहानी की एक सी गहरी पहचान जहाँ कहानी की ऊँचाई को निर्दिष्ट करती है वहीं वह कहानी के आलोचक को भी ऊँचा स्थान प्रदान करती है। 'मंत्र-1' में कैलाशनाथ के 'साँप' के साथ-साथ 'साँप' डॉ. चड्ढा की मानसिकता में है, जो कहीं अधिक विपैला है। उदय प्रकाश की 'वारेन हेगस्टिंग्स का साँड़' कहानी में वारेन हेगस्टिंग्स का साँड़ बाहर भी है भीतर भी। बाहरी साँड़ तक तो पाठकों, आलोचकों की दृष्टि जाती है पर भीतरी साँड़ तक उनकी दृष्टि नहीं जा पाती। पर कहानी की सार्थकता और साभिप्रायता इसी 'रिवीलेशन' की प्रतीक्षा करती रहती है। अपनी निश्चित पाठ-प्रक्रिया के आधार पर हिंदी के आलोचक पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु ने इन दोनों कहानियों की सार्थक तलान्वेशी आलोचना की है। (द्रष्टव्य :1. विसंरचनात्मक आलोचना अर्थ की सर्जना, जयपुर: नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2012, पृ. 3-26 और 2. उत्तर-आधुनिकता :

बहुआयामी संदर्भ, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2010, पृ. 30-42)

अब मैं कहानी कला विसंरचनावादी (deconstructionist) और उत्तर आधुनिकतावादी (Post-modernist) पाठ-प्रक्रिया के आधार पर प्रेमचंद की दो प्रसिद्ध कहानियों 'पूस की रात' और 'कफ़न'- की आंतरिक संरचना में न्यस्त तलान्वेषी सार्थकता-साभिप्रायता को उद्घाटित कर रहा है। कहानी के मर्म का ऐसा रहस्योद्घाटन तभी संभव हो पाता है जब कहानी को आत्मसात् किया जाय। तभी साक्षात्कार के घनीभूत क्षणों में कहानी का 'अनकहा' कौंधता है और आलोचना अपनी पाठ-प्रक्रिया में उसे साध लेता है। 'पूस की रात' अपनी सामान्य पाठ-प्रक्रिया में जो अर्थ देती है विसंरचना के लिए वह अर्थ न तो उस पाठ का अभिप्रेत है और न ही महत्वपूर्ण है क्योंकि 'विसंरचना' रचना या पाठ में उपस्थित प्राथमिक अर्थ या सामान्य अर्थ को स्वीकार नहीं करती है, वह उसमें सार्थकता को, प्रकटतः अनुपस्थित अर्थ को तलाशती और उसे अन्वेषित करती है।

'पूस की रात' कहानी का मुख्य पात्र हलकू है। वह बहुत छोटा किसान या खेतिहर होने के साथ-साथ मजदूर होने के कारण सर्वहारा है। 'पूस की रात' की प्राकृतिक ठंड, प्राकृतिक ठंड न होकर सर्वहारा या हलकू के जीवन के अर्थाभाव की घनीभूत ठंड है। स्वतः 'पूस की रात' और उसका अंधकार विचारधारा (Ideology) के अज्ञान की रात और उसको ज्ञान-प्रकाश का अभाववात्मक अंधकार है। यह विचारधारा के अभाव की प्रकाशहीनता है। खेतों में फसल चरने वाले जानवर, जो किसान के द्वारा पैदा की गई फसल को उसके उत्पादन को अपना घास बना लेते हैं, बुर्जुआ (परजीवी) पूँजीपति जमींदार के कारिंदे हैं। जबरा कुत्ता मध्य वर्ग को द्योतित करता है, जिसने सर्वहारा की देख रेख का उसकी सुरक्षात्मक जागरूकता का दायित्व ले रखा है वह हलकू को जाग्रत करता, उसे सुरक्षात्मक प्रतिरोध के लिए उत्प्रेरित तक करता है पर उसके द्वारा उत्प्रेरित उद्बोधित किये जाने के बावजूद हलकू नहीं जग पाता है। वह थोड़ा प्रयत्न करता तो दिखता है, उठ कर दो-चार कदम चलता भी है, पर हार कर बैठ जाता है।

इन सबके मूल में जो ठंड का अनुभव है, वह प्राकृतिक ठंड का अनुभव न होकर विचारधारा के अज्ञान में अर्थाभाव की ठंड का निष्क्रिय अहसास है। प्रतिकार और संघर्ष के लिए जो शक्ति चाहिए, उसे एक ओर अर्थाभाव निचोड़कर पी चुका है, दूसरी ओर उसे इस हेतु विचारधारा के ज्ञान का जो प्रकाश चाहिए, उसकी गर्माहट चाहिए, उसे अब तक वह नसीब नहीं हो पायी है।

जो मध्यवर्ग उसके साथ जुड़ा हुआ है और जिस पर वह विश्वास करता है वह उसे पूरी तरह विचारधारा का ज्ञान, संबल भी नहीं दे पाता है, क्योंकि उसकी जातिगत समानता परजीवी पूँजीपति के साथ है। महाजन तो किसान से अपना बकाया आमने-सामने वसूलता है, पर परजीवी पूँजीपति आमने-सामने के अलावा छिपकर भी घात करता है। वह उसके पूरे खेत की उपज को कटवा लेता है, खेत के उत्पादन को पूरा ही हड़प जाता है। सवेरे जब उसकी पत्नी मुन्नी आती है, उसे जगाती है और परजीवियों के द्वारा खेत की फसल चर जाने (काट लिये जाने) की स्थिति से उसे अवगत कराती है तब वह ईमानदारी से रात में पहरेदारी नहीं निभा पाने का कारण अपना पेट-दर्द बताता है। वास्तव में यह पेट दर्द सर्वहारा की भूख का दर्द है जो किसी भी विचारधाराहीन, सुविधाजीवी किसान को संघर्ष करने से रोकता है। मुन्नी कहती है, “अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।” यहाँ हलकू और मुन्नी-दोनों किसानों जैसी आजीविका की स्थितिगत समझ से अवगत होकर किसानों से मजूरी की मानसिकता में ‘शिफ्ट’ कर जाते हैं। साल में दो फसलों की उपज पर निर्भर होने से बेहतर रोज की दिहाड़ी बन जाती है। किसानों में तो जमींदार रातों रात फसल कटवा लेता है। मजदूरी में तो ऐसी स्थिति नहीं होगी। वह रोज कमायेगा, रोज खायेगा। हलकू कहता है, “रात की ठंड में यहाँ सोना तो नहीं पड़ेगा।” यहाँ यह संकेतित है कि विचारधारा के अज्ञान की रात और अर्थाभाव के ठंड में निश्चित होने (सोने) का नाटक तो नहीं करना पड़ेगा। मजदूर बनने की प्रक्रिया में विचारधारा की समझ भी मिलेगी (मजदूर यूनियन जो है) और अर्थाभाव की ठंड भी कम होगी। पेट भरा होगा, बुभुक्षा शांत होगी। कहानी में तार-तार कंबल अनावृत

अर्थाभाव की स्थिति को संकेतित करता है। हलकू द्वारा बटोरे गये पत्तों को जलाना उसके द्वारा अपने चैतन्य को आलोकित करने का क्षणिक प्रयास भर है, जहाँ न तो उसकी चेतना आलोकित हो पाती है और न उसका साथ ही उसे मयस्सर हो पाता है और वह एक विफल प्रयास बनकर रह जाता है।

इस तरह कहानी में जो प्रत्यक्षता अनुपस्थित है, वह विसंरचनात्मक (deconstructive) अर्थ चिह्नन (Tracing) की प्रक्रिया से उद्घाटित होकर कहानी को साभिप्रायित कर जाता है। कहानी में प्रतीपता (Reversal) की स्थिति ‘डिफेरेंस’ (differance) को जन्म देती है। स्मरणीय है कि हलकू नीलगाय द्वारा खेत के चरे जाते समय उसे खेत से भगाने के लिए उठ खड़ा होता है और दो-चार कदम चलता भी है पर वह चल नहीं पाता और बैठ जाता है। यहाँ जो स्थिति की माँग है और हलकू का जो दायित्व और कर्तव्य है उस दिशा में सक्रिय होकर भी उसका पुनः निष्क्रिय हो जाना प्रतीपता (Reversal) को जन्म देता है। ठंड कितनी भी क्यों न हो नीलगाय भगायी जा सकती थी पर उसका बिल्कुल निष्क्रिय होकर बैठ जाना ही यह ध्वनित कर देता है कि कहानी का अर्थ यह नहीं है उसकी साभिप्रायता कुछ और है। ‘डिफेरेंस’ (differance) इस अर्थ को स्थगित करता है (डिफेरेंस का पोस्टपोन्मेंट वाला अर्थ)। इससे अलग हटकर वह दूसरे अर्थ की तलाश करता है (डिफेरेंस का भिन्नता-पृथकता वाला अर्थ)। साथ ही उस अर्थ को कहानी के विकीर्णित बिंदुओं पर साभिप्रायित करता है (डिफेरेंस का विकीर्ण वाला अर्थ)। इस क्रम में कहानी का तलस्पर्शी अर्थ प्रत्येक बिंदु पर उद्घाटित हो पड़ता है। अर्थ की यह अनुपस्थित साभिप्रायता कहानी में उपस्थित अर्थ के साथ बिंब प्रतिबिंब भाव से उजागर हो पाती है। इस तरह देरिदा की यह स्थापना सार्थक हो उठती है कि संकेतक शब्द (Signifier word)–संकेतित/अर्थ (Signified/Meaning) का कोई स्थिर या निर्धारित संबंध नहीं होता है। जो संकेतित (अर्थ) है, वह पुनः संकेतक (शब्द) बन जाता है तथा किसी और अज्ञात और अदृष्ट को संकेतित (अर्थायित) करने लगता है। इसलिए संकेतित का कोई अंतिम अर्थ नहीं होता है

और संकेतक-संकेतित तथा संकेतित-संकेतक के बीच यह अर्थ क्रीड़ा चलती रहती है। इस कहानी में 'पूस की रात', अंधकार, ठंड, नीलगाय, जबरा कुत्ता, हलकू, तार-तार कंबल, पत्तों की जलायी गयी आग, ठंड में उठकर, चलकर नील गाय भगाने की असमर्थता- ये सब स्पष्ट संकेतित (अपने अभिधेयार्थ में) पुनः निहितार्थी संकेतक बन जाते हैं और अनुपस्थित गूढार्थ से कहानी को साभिप्रायित करने लग जाते हैं। यहाँ यह पूरी साभिप्रायता कहानी के 'पाठ' (Text) पर केन्द्रित और आधारित है। इसमें अर्थ का कोई मनमाना आरोप नहीं है। एक दूसरे भी संरचनावादी चिंतक पाले डी. मान ने विसंरचना (deconstruction) की अपनी सैद्धांतिकी में ऐलीगेरी (Allegory) की अवधारणा को महत्व दिया है। 'पूस की रात' की उक्त निहितार्थी साभिप्रायता इस ऐलीगेरी के तात्त्विक आधार पर भी उद्घाटित हो जाती है।

हिंदी में एक-से-एक ख्याति प्राप्त मार्क्सवादी आलोचक हैं, नामी-गिरामी, शिविरबद्ध आलोचक! रामविलास शर्मा ने 'प्रेमचंद' और 'प्रेमचंद युग' पर क्रमशः दो पुस्तकें लिखी हैं। नामवर सिंह प्रेमचंद पर, उनके कथा-साहित्य पर धुआंधार व्याख्यान देते रहे हैं। नंद किशोर नवल ने 'प्रेमचंद का सौंदर्यशास्त्र' नामक पूरी पुस्तक ही लिख डाली है। नामी गिरामी और भी हैं- रमेश कुंतल मेघ, शिव कुमार मिश्र (स्वर्गीय), बच्चन सिंह (स्वर्गीय), विश्वम्भर नाथ उपाध्याय (स्वर्गीय), परमारनंद श्रीवास्तव (स्वर्गीय), मैनेजर पाण्डेय, शंभुनाथ, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, चंद्रबली सिंह, खगेन्द्र ठाकुर आदि। पर पिछले 80 वर्षों में इनमें से किसी ने भी प्रेमचंद के किसी भी उपन्यास या कहानी की साभिप्रायता को गोलडमान, लूकाच, फ्रेडरिक जैमसन और टेरीगल्टन आदि द्वारा प्रस्तावित मॉडल या अपनी आलोचकीय प्रतिभा के आधार पर उद्घाटित करने का प्रयास तक नहीं किया है। यह आलोचक विसंरचनावादी आलोचना को रूपवादी कहते हैं और इस आलोचन-कर्म द्वारा रचना की साभिप्रायता को उद्घाटित करने वाले आलोचक को प्रतिक्रियावादी! प्रेमचंद साहित्य के यशस्वी अनुसन्धाता कमल किशोर गोयनका ने भी प्रेमचंद संबंधी अपना अनुसंधान व्यापकता-तुलनात्मकता (Macro-comparative) के

फलक पर ही किया है। प्रेमचंद की रचना के साभिप्राय मर्म बोध के सूक्ष्म गहन तत्त्व (Micro level) की उन्होंने उपेक्षा की है। ऐसे में मैंने पहली बार हिंदी संसार के सामने 'पूस की रात' की इस साभिप्राय अर्थवत्ता को उद्घाटित-विवेचित किया है। यह है विसंरचनात्मक आलोचना के आधार पर 'पूस की रात' के साभिप्राय अर्थ/मर्मबोध का उद्घाटन! यहाँ एक तथ्य को अच्छी तरह समझने की अपेक्षा है कि कोई भी आलोचना पद्धति या आलोचना-सिद्धांत महज अपने आधार पर रचना का अन्तर्हित मर्मबोध नहीं करा सकता। इसके लिए उसमें आलोचक की बुनियादी प्रगुणात्मकता अपेक्षित है। उसमें रचना के मर्म में प्रवेश करने की अपनी क्षमता चाहिए। आलोचना प्रविधि या सिद्धांत आधार मात्र प्रदान करते हैं। वे सोपान दिखा सकते हैं, वातायन खोल सकते हैं। पर भीतर प्रवेश तो आलोचक अपनी क्षमता या प्रतिभा के आधार पर ही कर सकता है। जैसे हजार वाट का प्रकाश या पावर का चश्मा अंधे को दृष्टि नहीं दे सकता, उसे देखने की क्षमता प्रदान नहीं कर सकता, वैसे ही आलोचक निजी साहित्य विवेक और अपनी प्रातिभ दृष्टि के अभाव में किसी भी साहित्य-सिद्धांत का आश्रय क्यों न ले, पर वह साहित्य पाठ या कहानी के मर्म का भावन न स्पर्श कर सकता है और न अपने लेखन कर्म से पाठकों को ही करा सकता है। कहानी के आलोचक को अपने क्षेत्र में 'तैराकी' की कला के साथ-साथ 'गोताखोरी' की कला में भी माहिर होने की आवश्यकता है। आज भी हिंदी में ऐसे गोताखोर आलोचक का अभाव है। यही कारण है कि कहानी की आलोचना विकसित और समृद्ध नहीं हो पा रही है।

देरिदा ने अपनी विसंरचनात्मक पाठ-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए "Two texts, two hands, two visions, two ways of listening (ecouts). Together at once and separately." (एम-45/एम.पी. 65) वह मूलतः पाठ या रचना में निहित दोनों पाठों, दोनों पक्षों, दोनों संदृष्टियों और दोनों मार्गों की तत्काल एक साथ और पुनः अलग-अलग प्राप्त होने वाली श्रवणशीलता की सक्रियता है। यहाँ एकात्मकता और द्वैतता- ये दोनों ही रचना या कहानी की प्रच्छन्न अन्तर्गर्भिता-श्रवणशीलता को उपलब्ध

कराने की प्रक्रियाएँ ही हैं। ऊपर 'पूस की रात' कहानी की अन्तर्गर्भी साभिप्रायता के किये गये उद्घाटन पर देरिदा का यह कथन पूरी तरह घटित होता है।

पूस की रात पर गुलज़ार ने एक टी.वी. फिल्म (T.V. film) बनायी है, दूरदर्शन के लिए। पर वहाँ कहानी की साभिप्रायता को नहीं समझ पाने के कारण इसके मूल कथानक को ही 'डिस्टॉर्ट' कर दिया गया है। मूल कहानी में जहाँ नीलगाय फसल चर जाती है वहाँ इस फिल्म में फसलों-भरे खेत में आग लगा दी जाती है। साथ ही मूल कहानी का समय-विस्तार जहाँ एक रात का है वहाँ इस फ़िल्म में दो रातों में विस्तारित कर दिया जाता है। यही नहीं, इस फ़िल्म में इस कहानी पर कफ़न कहानी के पात्रों का चरित्र-गुण भी आरोपित कर दिया जाता है। हलकू, घीसू और माधव की तरह खेत से सवेरे-सवेरे चोरी-छिपे आलू उखाड़कर ले आता है। यह उलट-पुलट और विरूपण (Distortion) जानबूझ कर अतिरिक्त मौलिकता की झोंक में किया गया है। प्रेमचंद की उत्कृष्ट कहानियों में प्रायः कथानक की दुहरी संरचना होती है— एक बाहरी और दूसरी भीतरी। यह दुहरी संरचना उनकी कई कहानियों—पूस की रात, कफ़न, ईदगाह, मंत्र-2 में प्राप्त होती है तथा कुछ अन्य कहानियों में भी देखी जा सकती है। प्रेमचंद की कहानियों में इसी दुहरी संरचना के कारण 'अर्थ गहवर' (Semantic enclave) बनते हैं। उनकी कहानियाँ भाषाभिव्यक्ति के स्तर पर भले ही सरल-सुगम दिखती हों, पर उनकी संरचना अर्थ और साभिप्रायता की बहुस्वनिक्ता (Multiphonicity) से भरी होती हैं। हिंदी आलोचकों की दृष्टि अभी इस ओर नहीं जा सकी हैं। फलतः उनकी कथा-संरचना का अर्थ-गहवर उद्घाटित नहीं हो पाया है। गुलज़ार मार्क्सवादी हैं। अन्य मार्क्सवादियों की तरह वे केवल अभिधेयार्थ को ही पकड़ते हैं। अतः इस कहानी की दुहरी कथा-संरचना में वे केवल अभिधेयार्थ को ही पकड़ सके हैं तथा प्रकट रूप में इस कहानी में जो साभिप्राय अर्थ-बोध अनुपस्थित दीखता है, वहाँ तक उनकी दृष्टि नहीं जा पायी है। इसीलिए अपनी इस फ़िल्म में उन्होंने प्रेमचंद से अधिक मौलिक बनने का जो दुस्साहस दिखाया है, उससे इस कहानी की आत्मा ही उपेक्षित हो गयी है।

जुलाई-सितम्बर, 2009 में महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) से प्रकाशित 'बहुवचन' पत्रिका (प्रो. राजेंद्र कुमार) के प्रेमचंद कहानी विशेषांक में 'पूस की रात' पर मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवर सिंह की एक टिप्पणी प्रकाशित हुई है। यहाँ नामवर जी ने 'पूस की रात' में व्याप्त ठंड को जमींदारी व्यवस्था की ठंड के रूप में देखा है, जबकि हलकू के जीवन में अर्थाभाव की ठंड जमींदारी व्यवस्था की ऊष्मा, उसकी गर्माहट का दुष्परिणाम है। नामवर जी का यह मत है कि "हलकू के जीवन में पूस की रात की ठंड सिर्फ एक रात की ठंड नहीं है, न ही यह पूस की रात का प्रकृति-चित्रण है। वस्तुतः यह एक ठंडी व्यवस्था, उग्र और क्रूर व्यवस्था का खुलासा है। व्यवस्था की ठंड की पराकाष्ठा है यह पूस की रात।" (पृ. 32) इसे पढ़कर ऐसा लगता है कि कुछ मौलिक कहने की झोंक में नामवर जी अपने साहित्य-विवेक को छोड़ देते हैं और भानुमती का बेमेल कुनबा जोड़ने लगते हैं। तभी वे हलकू के अर्थवत्ता की ठंड को, उसकी जीवन-व्यवस्था में व्याप्त इस ठंड को 'जमींदारी व्यवस्था की ठंड' मान लेते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि जमींदारी व्यवस्था का दुष्परिणाम झेलने, लगान के बोझ के तले दबे एक अत्यन्त सामान्य और अशक्त किसान के जीवन में अर्थाभाव की ठंड जमींदारी व्यवस्था की गर्माहट, उसकी ऊष्मा का ही दुष्परिणाम होती है। इन दोनों के बीच अपनी-अपनी व्यवस्था की ठंड की मान्यता नहीं है, बल्कि गर्माहट और ठंड की प्रतीपता (Reversal) है। यह 'प्रतीपता' देरिदा का पारिभाषिक है, जिसके द्वारा जमींदार और किसान-मजदूर के जीवन की विरोधता उभरती है। हाँ, नामवर जी का आधा कथन ठीक है कि जमींदारी व्यवस्था उग्र और क्रूर व्यवस्था है। पर 'उग्र और क्रूर व्यवस्था' का मिजाज कभी ठंडा नहीं होता है क्या? वह तो गर्म तेवरों वाली व्यवस्था होती है और अपने उग्र, क्रूर और गर्म तेवरों से किसान-मजदूर को ही त्रस्त किये रहती है। जमींदारी व्यवस्था सामंती शोषक की व्यवस्था है, जो हलकू जैसे किसान-मजदूर को शोषित करती रहती है। शोषक और शोषित की यह स्थिति अपनी सर्वांगीणता में 'प्रतीपता' की स्थिति है, दोनों जगहों पर ठंडी व्यवस्था की मान्यता की

नहीं। रूढ़ मार्क्सवाद की भी यही मान्यता है, जिससे वर्ग-संघर्ष जन्म लेता है। पर मेरे इस मत पर अपनी टिप्पणी करते हुए श्री नंदकिशोर आचार्य का कहना है कि 'शीतांशु' "डॉ. नामवर सिंह की व्यवस्था से असहमति प्रकट करते हैं कि 'पूस की रात की ठंड है', क्योंकि उनके (शीतांशु के) अनुसार 'जमींदारी व्यवस्था जमींदार के लिए तो ऊष्मादायक होती है। शीतांशु हलकू को महसूस हो रही ठंड को अर्थाभाव की ठंड कहते हैं। लेकिन क्या 'प्रतीपता' की अवधारणा के अनुसार जमींदारी व्यवस्था ही हलकू के अर्थाभाव की ठंड का उत्स नहीं है? दरअसल में दोनों ही व्याख्याएँ संभव हैं और विसंरचनात्मक पद्धत का सिद्धांत इन दोनों को अस्वीकार नहीं कर सकता।" ('चिंतक-सृजन', संपादक- बी. बी. कुमार, आस्था प्रकाशन, दिल्ली, अंक-अक्तू-दिस. 2014,) यहाँ नंदकिशोर आचार्य ने कहानी की सही पद्धत को महत्त्व नहीं देकर वाग़छल के द्वारा अपने मित्र डॉ. नामवर सिंह का खुल्लम खुल्ला पक्ष ले लिया है। यह 'वाग़छल' भी उन्होंने विसंरचनावादी आलोचना के 'प्रतीपता' जैसे परिभाषिक की आड़ में करने का प्रयास किया है। यह सच है कि जमींदारी व्यवस्था ही हलकू के अर्थाभाव की ठंड का उत्स है। यह अर्थ तो मेरी स्थापना से ही निकलता है, नामवर जी से नहीं। पर यह स्वयं ठंडी होकर हलकू के अर्थाभाव की ठंड का उत्स नहीं हो सकती। वह स्वयं गर्माहट भरी और क्रूर रहकर ही हलकू की जीवन व्यवस्था में अर्थाभाव की छाया ठंड का उत्स बन सकती है। पर यहाँ प्रतीपता 'गर्माहट' और 'ठंड' के बीच है, जबकि नामवर जी जमींदार की जिस 'ठंडी' व्यवस्था का उल्लेख करते हैं उसके साथ हलकू की 'ठंड' की 'प्रतीपता' (Reversal) की स्थिति नहीं, बल्कि समानता (Itaribility/Similarity) की स्थिति बनती है। आचार्य जी की इस टिप्पणी में उनकी आलोचना-दृष्टि और पाठ का साहित्य-विवेक दोनों ही छूट गये हैं। वे केवल अपनी आलोचकीय आँखें मूँदें आलोचना-सिद्धांत के पारिभाषिक से वाग़छल के द्वारा एक भ्रांत स्थापना करते दीखते हैं। वे भूल जाते हैं कि स्वयं प्रेमचंद ने अपनी इस कहानी की कथ्य-संरचना (Thematic structure) में 'जमींदारी व्यवस्था' को गर्माहट-भरी व्यवस्था के रूप में

निरूपित किया है और इसका अहसास हलकू से करवाया है- "और एक-एक भाग्यवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा जाए तो गर्मी से घबड़ा कर भागे। मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ-कम्बल। मजाल है कि जाड़े का गुजर हो जाए। तकदीर की खूबी है। मजूरी हम लूटें और मजा दूसरे लूटें।" ('पूस की रात', मंजूषा, संपादक- अमृतराय, इलाहाबाद : हंस प्रकाशन, 1992, पृष्ठ- 27) दूसरी ओर "हलकू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बाँस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े काँप रहा था।" (वही, पृ. 27) इससे भी पूर्व प्रेमचंद कहानी के आरंभ होते ही यह दर्शा देते हैं- "मुन्नी झाड़ू लगा रही थी। पीछे फिर कर बोली- तीन ही तो रुपये हैं, दे दोगे तो कम्बल कहाँ से आयेगा? माघ-पूस की रात घर में कैसे कटेगी?"xx "हलकू एक क्षण अनिश्चित दशा में खड़ा रहा। पूस सिर पर आ गया, कम्बल के बिना हार में रात को वह किसी तरह नहीं जा सकता।" (वही, पृ. 26) यह है गर्माहट भरी जीवन व्यवस्था और ठंडी व्यवस्था का अंतर! ऐसे में भला जमींदारी-व्यवस्था 'ठंडी-व्यवस्था' कैसे हो सकती है? उसके लिए तो एक गर्म व्यवस्था, हर तरह से गर्म व्यवस्था ही चाहिए। तीसरे, 'पूस की रात' की आंतरिक कथा-संरचना (जिसमें ठंडी रात के अंधेरे में जमींदार के आदमियों के द्वारा खेत की फसल कटवा ली जाती है) का तालमेल भी 'एक ठंडी व्यवस्था' की जगह 'एक गर्म व्यवस्था' से ही बैठता है। रही बात एक पाठ की अनेक 'पद्धत' की तो वहाँ भी (Wrong reading) 'गलत पद्धत' और (Wrong meaning) गलत अर्थ से बचाकर ही अनेक अर्थ लिये जा सकते हैं। पर आचार्य जी की पद्धत Misreading नहीं होकर Wrong reading की पद्धत है। अतः वह अस्वीकार्य है। ऊपर का सारा संदर्भ लिखना सिर्फ इसलिए अपेक्षित दीख पड़ा है, जिससे यह पता चल सके कि आज हिंदी कहानी की आलोचना कहानी की पहचान और परख के लिए कहानी के अभिधेयात्मक स्तर पर भी कितनी भ्रांतियों-भरी और पिछड़ी हुई है।

'कफ़न' प्रेमचंद की सर्वाधिक प्रसिद्ध कहानी है। पर आज पचासी (85) वर्षों के बाद भी क्या उस कहानी की

सही पहचान-परख हो पायी है? 'कफ़न' पर पचासों आलोचकों ने अपनी-अपनी कलम चलायी है। पर इससे हिंदी की कहानी आलोचना ने रूढ़ और सतही विवेचन के अतिरिक्त भला क्या उपलब्ध किया है और कौन सी सार्थकता-साभिप्रायता उद्घाटित कर दिखायी है? प्रायः सारी आलोचना एकायामी है और केवल समाज के साथ मार्क्सवादी दृष्टिकोण को केन्द्र में रखकर लिखी गयी हैं। डॉ. बच्चन सिंह ने नयी कहानी आंदोलन के समय 'सारिका' द्वारा आरंभ किये गये स्तम्भ के अन्तर्गत उसके एक अंक में 'कफ़न' का विवेचन किया था। डॉ. इंद्रनाथ मदान ने इसको हिंदी की पहली आधुनिक कहानी मान लिया था। पर आज यह हिंदी की पहली उत्तर-आधुनिक कहानी सिद्ध होती है और उसके सभी घटक तत्वों के आधार पर इसे चरितार्थ और और साभिप्रायित करती है। इसके अन्य विवेचकों में डॉ. कमल किशोर गोयनका, डॉ. प्रभाकर माचवे, डॉ. विवेकी राय, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. कल्याण मल लोढ़ा, डॉ. प्रेमशंकर, डॉ. केशव प्रथम वीर, श्री हंसराज रहबर, श्री शैलेश मटियानी, श्री भीष्म साहनी, श्री निर्मल वर्मा, श्री रमेश उपाध्याय प्रमुख रहे हैं। फिर भी इन सब आलोचकों ने अपने-अपने सीमित एकायामी विवेचन के कारण 'कफ़न' की निगूढ़, आंतरिकता पर मानों कफ़न ही डाल रखा है।

प्रेमचंद हिंदी के ऐसे समर्थ कहानीकार हैं, जिनकी उत्कृष्ट कहानियों में प्रायः दो कथा संरचनाएँ एक साथ प्राप्त होती हैं। एक बाहरी और दूसरी आंतरिक। हिंदी में 'नयी कहानी' के आलोचक डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने कविता की आलोचना से कहानी की आलोचना को अलगाते हुए बताया था कि कविता में प्रतीकीकरण शब्दों के द्वारा किया जाता है, पर कहानी में यह प्रतीकीकरण उसकी पूरी संरचना में व्याप्त होता है, जिसे आज हम 'प्रोक्ति' (Discourse) का स्तर कह सकते हैं। पर उन्होंने इसे किसी भी कहानी की पाठ-प्रक्रिया के आधार पर उद्घाटित-निरूपित करने का प्रयास नहीं किया। कहना होगा कि कहानी की यह आंतरिक संरचना उसकी सार्थकता और साभिप्रायता को उद्घाटित करती है।

'कफ़न' कहानी का पाठक उसकी बाहरी संरचना में

उपस्थित अर्थ बनाम कथ्य से तो परिचित हो जाता है, पर उसकी आंतरिक संरचना में विद्यमान अर्थ बनाम कथ्य तक उसकी पहुँच नहीं हो पाती है। यही स्थिति हिंदी कहानी के आलोचकों की भी रही है। 'कफ़न' में जो प्रकटतः उपस्थित नहीं होकर प्रच्छन्नः विद्यमान है, वहां तक इनकी भी पहुँच नहीं हो पायी है। 'कफ़न' की आंतरिक संरचना में प्रवेश करें, तो पूरी कहानी में 'कर्म-संस्कृति' (Work culture) पर, 'कर्मण्यता' पर कफ़न पड़ा हुआ मिलता है। ज़मींदार और उसका सामन्त वर्ग तो बुर्जुआ/परजीवी है ही। पर उतना ही सच यह घीसू और माधव के लिए भी है। इनकी मानसिकता भी परजीवी मानसिकता है। इन्होंने अपनी मानसिकता के साथ-साथ अपने यथार्थ जीवन में भी अपनी-अपनी कर्मण्यता पर निष्क्रियता का कफ़न डाल रखा है। इन दोनों का जीवन बुधिया की कर्म-संस्कृति और कर्म-शक्ति पर निर्भर है। औरत की कर्मशीलता और कर्मशक्ति पर निर्भर! वही इनका पेट पालती है। इसकी संपुष्टि के लिए 'कफ़न' में प्रेमचंद द्वारा निरूपित अग्रलिखित गम्य-प्रोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं- "1. गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे।"xxx 2. "जब से वह औरत आयी थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी और इन दोनों बेगैरतों का दोजख भरती रहती थी। जब से वह आयी, यह दोनों और आरामतलब हो गये थे।" ('कफ़न', मंजूषा, संपादक- अमृतराय, इलाहाबाद: हंस प्रकाशन, 1992, पृष्ठ- 16,17) घीसू और माधव बुधिया की प्रसव-पीड़ा के समय भी निष्क्रिय ही बने रहते हैं। वे बुधिया को उसके भाग्य पर छोड़ देते हैं और बुधिया अपनी प्रसव-पीड़ा के दौरान मर जाती है। बुधिया का गर्भस्थ भावी शिशु 'कर्म-संस्कृति का शिशु' है। पर उसकी भी मृत्यु हो जाती है। घीसू और माधव के यहाँ 'कर्म-शिशु' जन्म नहीं ले पाता है। इसमें भी घीसू और माधव ही अपनी नकारात्मकता के माध्यम बनते हैं। इस तरह बुधिया की मृत्यु वर्तमान और आसन्न भविष्यत् कर्म-संस्कृति की मृत्यु है। 'कफ़न' में कर्म-संस्कृति बनाम उपभोक्ता संस्कृति (Consumer culture) के बीच कोई तनाव नहीं है। यहाँ कर्म-संस्कृति प्रायः मृत है और उपभोक्ता संस्कृति जीवित।

भारतीय सामाजिक संरचना की यह विचित्र स्थिति रही है कि यहाँ सर्वहारा वर्ग भी हमें सामन्त, पूँजीपति वर्ग का अनुकरण करता मिलता है। 'कफ़न' कहानी में सामन्त वर्ग की कर्म-संस्कृति पर तो कफ़न पड़ा ही है, पर घीसू-माधव जैसे सर्वहारा वर्ग के चरित्रों पर भी पड़ा हुआ है। सामन्त वर्ग का यह अनुकरण हिंदी-पट्टी की सामाजिक-संरचना तक में अपनी प्रबलता में उपस्थित और सक्रिय है। ज़मींदार का सामन्त वर्ग कर्महीन उपभोग की संस्कृति को जानता और मानता है। उसे ही वह अपने जीवन में आचरित करता है। घीसू और माधव भी इसे अपने ढंग से वहाँ ग्रहण करते और अपने जीवन में उतारते, आचरित करते हैं।

घीसू और माधव दोनों 'कफ़न' खरीदने के लिए बाज़ार जाते हैं। पर यह एक काम भी वे सम्पन्न नहीं कर पाते हैं। वस्तुतः वे दोनों अपने द्वारा कफ़न खरीदने के कर्म पर भी कफ़न डाल देते हैं। वहाँ कर्म-संस्कृति हारती, पराजित होती है और उपभोग की संस्कृति सक्रिय हो उठती है। घर में बुधिया का शव पड़ा है और दोनों खाते-पीते और मस्त होकर नाचते हैं।

'कफ़न' कहानी में 'कफ़न' का क्रिया-व्यापार निषेधात्मक और विद्येयात्मक- दोनों है। कर्मकांडी बाह्य संरचना के स्तर पर जा पाता है, बुधिया के शव को, पर कहानी की आंतरिक संरचना के स्तर पर कफ़न नहीं दिया जा पाता है उपभोगिता और दैहिक-सुखात्मकता के आकर्षण को। बुधिया को कफ़न नहीं दिया जाना वस्तुतः अपने उपभोगात्मक साधन और स्रोत को कफ़न का नहीं दिया जाना है। पूरी कहानी में खास-खास स्पॉट्स, डॉट्स और ट्रेसिज इस तथ्य का साक्ष्य बनकर सामने आते हैं कि यहाँ कफ़न कर्म-संस्कृति पर पड़ा है- सामन्त वर्ग और सर्वहारा वर्ग दोनों के यहाँ ही, पर फोकस में सर्वहारा वर्ग विशेष तौर पर उभरता है, जिसके प्रतिनिधि यहाँ घीसू और माधव हैं।

डॉ. इंद्रनाथ मदान हिंदी में आधुनिकता पर विचार करने वाले पहले सक्रिय आलोचक रहे हैं। इस नज़रिये से और इस निकष पर उन्होंने हिंदी कहानी, हिंदी उपन्यास, हिंदी नाटक और हिंदी कविता की पहचान और परख

करने का प्रयास भी किया है। अपने इस प्रयास में उन्होंने हिंदी कहानी पर विचार करते हुए 'कफ़न' को हिंदी की 'पहली आधुनिक कहानी' मान लिया है। उनकी इस स्थापना के बाद तो हिंदी कहानी और विशेषतः प्रेमचंद की कहानी के अध्येता, अनुसंधान और आलोचक- सभी इसे मानने लग गये हैं कि 'कफ़न' हिंदी की 'पहली आधुनिक कहानी' है। पर वास्तविकता ऐसी है नहीं। हमें पहले यह देख लेना चाहिए कि आखिर 'आधुनिकता' की अपनी मान्यताएँ क्या हैं और यह भी कि क्या 'कफ़न' कहानी अपनी कथ्य-संरचना और सोद्देश्यता में इन मान्यताओं को चरितार्थता-सार्थकता प्रदान करती है या नहीं? 'आधुनिकता' (Modernity) सबसे पहले 'विवेक' (Reason) को महत्त्व देती और उसे मानती है। दूसरे, 'आधुनिकता' 'अनुशासन' का अनुपालन करती है। तीसरे, यह 'कर्म-संस्कृति और गतिशीलता' को मानती तथा उसे आचरित करती है। चौथे, यह 'नगरीकरण' (Urbanisation) करती है और नगरोन्मुख होती है। पाँचवे, इसमें 'धर्म-निरपेक्षता' का महत्त्व होता है। आधुनिकता धर्म-केन्द्रित उन्माद का निषेध करती 'धर्म-निरपेक्षता' को जीती है। कहना न होगा कि इन पाँचों मान्यताओं में से कोई एक भी मान्यता 'कफ़न' कहानी पर चरितार्थ नहीं हो पाती है, बल्कि इनमें तीन मान्यताओं- 'विवेकशीलता', 'अनुशासनप्रियता', और 'कर्म-संस्कृति तथा गतिशीलता'- का तो यह कहानी अपने पूरेपन में निषेध ही करती है। अतः 'कफ़न' एक आधुनिक कहानी नहीं है। सच तो यह है कि 'कफ़न' एक 'उत्तर-आधुनिक' कहानी है। 'उत्तर-आधुनिकता' के केन्द्र में 'विवेक' नहीं होता, 'इच्छा' (Desire) होती है। 'कफ़न' कहानी के दोनों पात्र घीसू और माधव अपनी निर्बन्ध 'इच्छा' (Desire) से ही परिचालित हैं और 'कफ़न' की कथावस्तु भी 'इच्छा' के केन्द्र में ही विकसित होती और 'इच्छा' के सीमान्त पर ही अपनी चरमसीमा (Climex) पर पहुँच कर समाप्त होती है। दूसरे, घीसू और माधव के जीवन में कहीं कोई अनुशासनात्मकता नहीं है। उनकी जीवन-चर्या निषेध निर्बन्ध और ग़ैर-रूटीनी है। 'कर्म-संस्कृति और गतिशीलता' को तो इन दोनों ने तिलांजलि ही दे रखी है। कर्म-संस्कृति-विहीन होने के कारण इनके नगरोन्मुख होने

का प्रश्न ही नहीं उठता है, साथ ही कथावस्तु में इसका कोई उल्लेख तक नहीं है। अतः प्रत्येक दृष्टि से इस कहानी को 'आधुनिक' कहानी मानना अयुक्तियुक्त, असंगत और भ्रमोत्पादक ही सिद्ध होता है। यह कहानी स्वच्छन्द रूप में 'इच्छा' केन्द्रित होने के कारण एक 'उत्तर-आधुनिक' कहानी है और हिंदी की पहली 'उत्तर-आधुनिक कहानी' है। 'उत्तर-आधुनिकता' 'उत्पादन' (Production) का निषेध करती है और 'लीला-भाव' (Seduction) को महत्त्व देती है। घीसू और माधव इसी 'विमोहक लीला भाव' (Seduction) के कारण एक मधुशाला में प्रवेश कर जाते हैं। कहानी के अंत में प्रेमचंद से इस 'विमोहक लीलाभाव' का बड़ा ही अनूठा और जीवंत चित्रण बन पड़ा है- और दोनों खड़े होकर गाने लगे- 'ठगनी क्यों नैना झमकावै! ठगनी.'। पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले कूदे भी। गिरे भी, मटके भी! भाव भी बताये, अभिनय भी किये। और आखिर नशे में मदमस्त होकर गिर पड़े।' (वही, पृ. 25) उत्तर-आधुनिकता की तीसरी विशेषता संस्कृति से पलायन (Flee culture) है। 'कफ़न' कहानी में तो संस्कृति से पलायन स्पष्ट है, चाहे वह पारिवारिक संस्कृति हो या सामाजिक संस्कृति या धार्मिक संस्कृति। आशय यह कि इस कहानी में संस्कृति को जिस परिदृश्य में देखें, उसके अनुपालन की जगह उससे पलायन ही दृष्टिगत होता है। चाहे पिता और पुत्र (घीसू और माधव के गर्म-गर्म आलू खाने) का संदर्भ हो या पति-पत्नी (माधव या बुधिया) का; समाज में श्रम करते और चोरी न करने का, अपनी रोज़ी-रोटी के लिए सही साधन अपनाने का संदर्भ हो या घर में मृत पड़ी माधव की पत्नी और घीसू की पुत्रवधू को कफ़न देने का संदर्भ हो, सर्वत्र संस्कृति से पलायन ही हुआ है। इस दृष्टि से भी यह एक 'उत्तर-आधुनिक' कहानी है। इसके द्वारा प्रेमचंद ने सांस्थानिकता (Institutionality) और परम्परा का अतिक्रमण (Transgression) भी दिखा दिया है, जो अपने-आप में एक 'उत्तर-आधुनिक' संलक्षणात्मक वैशिष्ट्य ही है। अन्ततः साहित्य की 'उत्तर-आधुनिक' पठनीयता 'पाठ' (Text) या कहानी (Story) की समझ

के लिए उस 'तैराकी' को महत्त्व नहीं देती, जो पूरे कथानक विस्तार में बिम्बमालाओं को दिखाती चलती है, बल्कि इसका निषेध करती हुई वह उस 'गोताखोरी' को महत्त्व देती है, जहाँ 'पाठ' (Text) की 'चाक्षुषता' (Visuality) की जगह उसकी 'श्रवणशीलता' (Audibility) 'पाठ' की सार्थकता को तलाशती और उसे प्राप्त करती है। 'कफ़न' में उसकी आंतरिक संरचना की साभिप्रायता इसी 'श्रवणशीलता' के द्वारा प्राप्त होती है। यही श्रवणशीलता 'विसंरचना' (Diconstruction) का जन्म देती है। इन सबसे यह सिद्ध हो जाता है कि 'कफ़न' 'आधुनिक कहानी' न होकर एक 'उत्तर-आधुनिक' कहानी है।

'कफ़न' कहानी का सर्वाधिक विवेचन मार्क्सवादी कहानी के रूप में किया गया है। पर आलोचकों की यह स्थापना भी उतनी ही गलत है जितनी उसे 'आधुनिक' कहानी घोषित करने वाली स्थापना। घीसू और माधव न तो किसान-मजदूर हैं और न ही किसान। उन दोनों का काम और श्रम से कोई लेना-देना नहीं है। वे दोनों कर्म-संस्कृति से पूरी तरह विमुख हैं। उनका कोई 'उत्पादन' (Production) नहीं है। ऐसे में उनका कोई शोषण भी क्या करेगा? वे विकलांग और शरीरतः असमर्थ भी नहीं हैं। वे झूठे हैं, मक्कार हैं, चोर हैं, छली हैं और परम आलसी हैं। जमींदार किसानों और मजदूरों का शोषण करता है। यह दोनों में से कुछ भी नहीं है। केवल अर्थहीन, अर्थाभाव का मारा होने के कारण तथाकथित सर्वहारा है। पर यह स्वयं अपनी पत्नी और अपनी बहू के श्रम का शोषण करते हैं। वह अपने परिवार पर स्त्रीवाद (Feminism) में निरूपति 'पितृसत्तात्मकता' (Patriarchy) को हावी रखता है। बुधिया एक रूढ़िवादी नारी है। मार्क्सवाद की 'नयी नारी' नहीं है वह; और न ही वह तिल-मात्र नारी-स्वतंत्रता को जानती है। इसके विपरीत 'कफ़न' के घीसू और माधव व्यक्ति-स्वातंत्र्य से भरे-पूरे हैं। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मानने वाले हैं। साथ ही 'क्षण' के सुख का उनके लिए महत्त्व है, चाहे वह शारीरिक सुख हो या मानसिक। कहना होगा कि ये दोनों विशेषताएँ 'अस्तित्ववादी' विशेषताएँ ही हैं। मेरी इस मान्यता के संदर्भ में निर्मल वर्मा की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं- "जिस क्षण बाप-बेटे ने घर की

औरत के कफ़न के पैसों से शराब का कुल्हड़ मुँह से लगाया था, उस क्षण पहली बार हिंदी साहित्य में व्यक्ति ने अपनी स्वतंत्रता का स्वाद भी चखा था। यह क्षण वह था जब प्रेमचंद के समाज में 'व्यक्ति' का जन्म हुआ था। यह जन्म 'मृत्यु' और 'श्मशान' की छाया में हुआ था— दो पियक्कड़ हिंदुस्तानियों का मुक्ति समारोह।" (निर्मल वर्मा, प्रेमचंद की उपस्थिति, शताब्दी के ढलते वर्षों में, नयी दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1995, पृ. 212)

यह सच है कि 'कफ़न' में जहाँ ज़मींदार के यहाँ सामंती व्यवस्था सक्रिय है, वहाँ घीसू और माधव के आचरण में भी प्रायः संस्कारगत सामंतवादी अनुकरण दीखता है। प्रेमचंद जैसे अपने समकाल (1935) की सामंती व्यवस्था में श्रम से दूर रहकर बिना किसी प्रकार की आजीविका किये ही अपने लिए खाने-पीने और मौज-मस्ती का तात्कालिक जुगाड़ कर लेने वाले एक ऐसे उभर रहे वर्ग को देखते हैं, जिसके प्रतिनिधि घीसू और माधव हैं। मानों समाज में आदमी के एक गलत निष्क्रिय और अपराधी वर्ग का आविर्भाव हो रहा हो। भारत को आज़ादी मिलने के बाद एक बार और ऐसा ही उल्लेख देखने को मिलता है। भारत के द्वितीय राष्ट्रपति सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन के सुपुत्र प्रो. गोपाल राधाकृष्णन, जो जे.एन.यू., नयी दिल्ली में इतिहास के प्रोफ़ेसर रहे हैं, उन्होंने गाँधी और नेहरू पर एक तुलनात्मक पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने यह उल्लेख किया है कि नेहरू अपने अंतिम कार्यकारी दिनों में यह कहने लगे थे कि "मैं एक 'राँग इंडिया' (Wrong India) को उभरता हुआ देख रहा हूँ।" नेहरू का यह पर्यवेक्षण (observation) नगरों-महानगरों की स्थलीयता पर, वहाँ के नागरिकों के बीच एक ऐसे ही उभर रहे वर्ग पर आधारित था। पर यहाँ मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि नेहरू को जो बोध उन्नीस सौ साठ के दशक में हुआ, एक ऐसे उभर रहे आजीविकाहीन कर्म-संस्कृति-विहीन, अकर्मण्य, कामचोर; पर सुख-सुविधा और मौज-मस्ती का अपने लिए जुगाड़ करने वाला वर्ग, उसको भविष्य द्रष्टा कथाकार प्रेमचंद ने उन्नीस सौ इक्कीस से आरंभ होने दशक में ही गाँव के परिदृश्य में देख लिया था। जैसे इस राँग इंडिया (Wrong India) का सूत्रपात

ग्रामीण परिदृश्य में रहने और जीने वाले घीसू और माधव के द्वारा हुआ, वैसे ही 1961 से आरंभ होने वाले दशक में नेहरू ने बहुत दुखी मन से "Wrong India" के विषय में अनुभव किया था। प्रेमचंद इसी "Wrong India" को ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में बहुत पहले देख लेते हैं। पर 'कफ़न' के आलोचकों का ध्यान इस ओर भी नहीं जा पाया। 'कफ़न' कहानी जिस 'राँग इंडिया' (Wrong India) को दिखाती और निरूपित करती है, उसका दायित्व गाँव की सामंती व्यवस्था को जाता है। ठीक उसी तरह नेहरू ने नगरों में उभर रहे और फूल-फल रहे जिस 'राँग इंडिया' को देखा, उसका दायित्व आज़ाद देश के राजनेताओं और उच्च प्रशासनिक पदाधिकारियों को जाता है।

कहानीकार और साहित्यकार भविष्यद्रष्टा होता है। वह भविष्य में प्रत्यात्मक रूप में घटित होने वाली चीजों को उसकी अंकुरित अवस्था में ही देख-परख लेता है और उसे अपनी लेखनी का विषय बना लेता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज इस 'राँग इंडिया' का कितना व्यापक और अनेकशः विस्तार हो चुका है। इस तथ्य को नहीं समझने और समाज की नब्ज को नहीं पहचान पाने के कारण ही 'कफ़न' के विषय में हंसराज रहबर को यह लिखना पड़ा कि "प्रेमचंद अपने अंतिम समय में सठिया गये थे, जो उन्होंने ऐसी गलिच्छ कहानी लिखी, वह उनकी अत्यंत निकृष्ट कहानी है, और मैं इस निष्कर्ष पर बहुत बाद में अपने मार्क्सवादी अध्ययन द्वारा पहुँचा हूँ।" (द्रष्टव्य: हंसराज रहबर, 'सारिका' अक्टूबर, 1986) आश्चर्य होता है कि रहबर साहेब कैसे मार्क्सवादी थे जो अपने यहाँ गाँव के समाज में, उसकी सामाजिक संरचना और उसके निश्चित-निर्धारित क्रिया-व्यापार में हो रही इस बड़ी 'शिफ्ट' (Shift) को नहीं पहचान सके। उन्हें 'कफ़न' में जो भी 'गालिच्छ' और 'निकृष्ट' लगा है, वह 'गालिच्छपन' और 'निकृष्टता' तो उस समाज में आ चुकी थी। गाँव के समाज के अत्यंत सामान्य लोगों में 'परजीवी' मानसिकता का उदय और उसकी सक्रियता: स्वजीवी सक्रियता की जानबूझकर की गयी उपेक्षा! किसी निश्चित-निर्धारित मद में खरचने के लिए दी गयी अर्थराशि का उसके पूरेपन में प्रपंच के द्वारा अपने हित में व्यय और उपभोग! पुत्रवधू, कुलवधू,

पत्नी, दाता, समाज, संस्कृति सबसे विश्वासघात! सबकी प्रत्याशाओं का हनन! स्वेच्छा आजीविकाहीन, श्रमरहित रहते हुए परजीवी रूप में जुगाड़ करते हुए अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना! सच कहें, तो घीसू और माधव गाँव के समाज में उक्त प्रवृत्तियों वाले उभर रहे ऐसे नये वर्ग का ही तो कहानी में प्रतिनिधित्व करते हैं। कालान्तर में ऐसी ही मनोवृत्ति के आधार पर इसी को आजीविका का स्थायी साधन बना लेने वाले वर्ग का नगर-महानगर तक में व्यापक विकास हो जाता है, जिसे नेहरू ने बहुत विलम्ब से 'राँग इंडिया' (Wrong India) के रूप में पहचाना। यदि 'कफ़न' के आलोचकों ने इस कहानी की पहचान समाज-चेतना के इस आलोक में 'कफ़न' के समकाल में ही कर ली होती, तो समाज-सुधारक और सामाजिक नेतृत्व तब इस दिशा में ध्यान दे पाता और शायद 'राँग इंडिया' का उदय, विकास और आधिपत्य कायम होने की स्थिति नहीं आ पाती। पर आज मेरे लिए यह सोचना एक खुशफ़हमी-भर है।

'कफ़न' के एक मार्क्सवादी आलोचक रमेश उपाध्याय का आरोप है कि "कफ़न में किसानों की तुलना जिस घीसू, माधव से की गयी है, वे नकारात्मक चरित्र हैं और यहीं प्रेमचंद चूक गये हैं।"xxx "कफ़न के साथ दिक्कत यह है कि वह किसानों की मुक्ति की समस्या तो उठाती है, उसका कोई समाधान नहीं सुझाती।"xxx "कफ़न के ताने-बाने श्रमजाल बुनते हैं।" (द्रष्टव्य, रमेश उपाध्याय, 'सारिका', फरवरी 1987) वस्तुतः यहाँ उपाध्याय जी ने तीन आरोप किये हैं। उनका पहला आरोप है कि प्रेमचंद जहाँ 'कफ़न' कहानी में घीसू और माधव जैसे नकारात्मक चरित्रों की तुलना करते हैं वहीं वे चूक जाते हैं। यदि हम कहानी को देखें, तो पहली बार प्रेमचंद ने इनकी अप्रत्यक्ष तुलना मिहनती मजदूरों से की है। प्रेमचंद 'किसानों' का प्रयोग किसानों के लिए और किसानों के मजदूरों के लिए भी करते हैं। उन्होंने लिखा है- "किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे।" (कफ़न, पूर्ववत्, पृ. 16) यहाँ वे 'किसानों' का प्रयोग अपनी ज़मीन पर खेती करने वाले कराने वालों किसानों से है। स्पष्ट है कि घीसू और माधव भी इस वर्ग के न होकर मजदूर थे और

उन्हें मजदूरी मिल सकती थी। यहाँ कर्मण्य मजदूरों के साथ इन अकर्मण्यों की तुलना की गयी है। इनकी अकर्मण्यता का निष्कर्षात्मक चरम सीमा भी द्रष्टव्य है- "जबसे वह (बुधिया) आयी, वह दोनों और भी आरामतलब हो गये थे, बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी मांगते।" (वही, पृ. 17) यहाँ उनका कामचोर मजदूर होना सिद्ध होता है। प्रेमचंद ने कहानी में आगे आकर पुनः उनकी तुलना की है। लेखकीय प्रोक्ति के पूर्वार्ध में मजदूर और मजदूर के बीच तथा किसान और किसान के बीच की तुलना है- "जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत (घीसू और माधव की) हालत से बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में ये लोग, जो किसानों की दुर्वृत्ताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। (वही) यहाँ मजदूर और मजदूर तथा किसान और किसान की तुलना स्पष्ट है। आगे उनकी टिप्पणी है- "हम तो कहेंगे घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था और किसानों के विचार शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था।" (वही, पृ. 18) यहाँ किसानों के साथ उनकी स्पष्ट तुलना की गयी है। पर यहाँ किसानों का अर्थ जमीन रखने वाले और अपने हल-बैल से स्वयं खेती करने वाले किसानों से नहीं है, बल्कि खेतों में काम करने वाले मजदूरों से है। सही किसान तो अपनी थोड़ी-बहुत भी जमीन रखने वाला और जोतने वाला है। पर मजदूर श्रम करके मजदूरी लेने वाला। प्रेमचंद ने यहाँ उन्हें भी 'किसान' कह दिया है। वास्तविकता यह है कि यहाँ 'किसान' 'अरेखांकित' (Non-Marked) शब्द है, जिसमें खेत में काम करने वाला मजदूर भी समाहित है। 'रेखांकित (Marked) रूप में प्रयोग करने पर 'किसान' में मजदूर का समावेश नहीं होगा। दोनों के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा यहाँ अभिप्राय की भिन्नता से प्रयोग की स्थिति का पता चलती है। उपाध्याय जी की कठिनाई यह है कि उन्होंने यहाँ 'किसान' से अपनी जमीन जोतने वाले किसान का अर्थ ग्रहण कर लिया है। प्रेमचंद घीसू और माधव की

स्थिति तथा मनोवृत्ति को और स्पष्ट करते हैं- “अगर वह फटेहाल हैं, तो कम-से-कम उसे किसानों की सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती और उसकी सरलता और निरीहता का दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।” (वही, पृ. 18) यहाँ प्रेमचंद द्वारा व्यवहृत ‘विचारवान’ शब्द ‘व्यवहार-बुद्धि’ के संदर्भ में अपनी सार्थकता दिखाता है। यह ‘व्यवहार-बुद्धि’ अपना मुनाफा-नुकसान, जायज-नाजायज को परखने-समझने में दक्ष है। पर घीसू और माधव ‘सरल’ और निरीह’ दिखते-भर हैं, वास्तव में ये ऐसे हैं नहीं। यदि ये ‘सरल’ होते, तो व्यवहार-बुद्धि वाले ‘विचारवान’ नहीं होते और यदि ‘निरीह’ होते, तो कहानी अपनी चरम-सीमा पर नहीं पहुँच पाती। ‘निरीह’ इच्छाहीन को कहते हैं। ‘निरीह’ होकर तो ये ‘कफ़न’ के पैसों से कफ़न ही खरीदते, कहीं कोई व्यतिक्रम और विचलन नहीं करते, प्रत्याशा का अतिक्रमण नहीं होता। पर कहानी का उत्तरार्ध तो घीसू और माधव की ‘इच्छा’ के नाभिकेन्द्र से ही प्रेरित, व्यापारित और परिणामित होती है।

घीसू का नकारात्मक चरित्र ग्रामीण समाज में एक नये वर्ग की उपस्थिति को दर्ज करने वाला है। ये दस्तावेजी चरित्र हैं, अभिलेखीकृत होने वाले! ये दोनों अपने ग्रामीण समाज में एक गलत वर्ग (Wrong class) का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं। अतः प्रेमचंद यहाँ चूके नहीं हैं, बल्कि अपनी कहानी में इन्हें इनके पूरेपन में दिखलाकर कहीं अधिक सफल हुए हैं।

उपाध्याय जी यह भी कहते हैं कि यह कहानी किसानों की मुक्ति की समस्या तो उठाती है, पर उसका कोई समाधान नहीं सुझाती। सच्चाई यह है कि किसानों की मुक्ति की समस्या ‘पूस की रात’ में हैं, हलकू के यहाँ और वहाँ उसके समाधान की राह स्वयं हलकू और मुन्नी मिलकर निकाल लेते हैं और उससे संतुष्ट भी होते हैं। ‘कफ़न’ में किसानों की मुक्ति की समस्या नहीं है, समस्या अगर है तो घीसू और माधव जैसे पात्रों वाले वर्ग के उभरने की समस्या है, ग्राम्य समाज में एक ‘गलत वर्ग’ (Wrong class) के उभरने की समस्या है। उपाध्याय जी पूछ सकते हैं कि कहानी इसका क्या समाधान सुझाती है। मुक्तिबोध के अनुसार इसका एक जवाब तो यह दिया जा

सकता है कि कविता या कहानी एक प्रकार की भावात्मक सर्जना है, यह कोई विचारात्मक निबंध तो नहीं है कि अगर समस्या उठायी गयी, तो उसका समाधान सुझाना या देना भी वहाँ आवश्यक हो। पर उपाध्याय जी को मैं यह बताना चाहता हूँ कि ‘कफ़न’ एक ऐसी कहानी है, जिसकी संरचना में इस समस्या के कारण सुविन्यस्त हैं और यदि इन कारणों को निर्मल कर दिया जाए तो समस्या समाधान प्राप्त कर लेती है। ये कारण हैं- 1. ज़मींदारी व्यवस्था में ‘बेगार’ (Free labour) लेकर मजदूरों का किया जाने वाला शोषण, 2. मजदूरों की सही मजदूरी न देकर उनका किया जाने वाला शोषण, 3. कर्म-संस्कृति से पलायन और आपराधिक मनोवृत्ति तथा परजीविता का आलम्बन। इनसे मुक्ति दिलाने का दायित्व कहानीकार का नहीं, जागरूक सामाजिक संघटनों और प्रशासनिक व्यवस्था को होता है, जो आज हमारे यहाँ आज़ाद देश में भी निष्क्रिय है। इसी के अभाव में एक ‘गलत भारत’ (Wrong India) को नेहरू ने उभरते हुए देखा था। ऊपर मैंने यद्यपि उपाध्याय जी के प्रश्न के उत्तर की सही दिशा का निर्देश कर दिया है, पर इस प्रश्न के उत्तर की कठिनता का एक संकेत निर्मल वर्मा की अग्रलिखित टिप्पणी में प्राप्त होता है- ‘कफ़न’ कहानी का सत्य उस व्यंग्य में निहित है, जो घीसू और माधव उस समाज पर करते हैं, जो जीते जी किसी की मदद नहीं करता, जबकि मुरदे के दाह-संस्कार के लिए पैसे जुटाना अपना धर्म समझता है, किन्तु इस धर्म का सत्य भी नगण्य नहीं, क्योंकि इसके बिना न ज़मींदार उन्हें कफ़न के पैसे देता, न उन्हें यह विश्वास होता कि एक बार पैसे उड़ा देने के बाद वही समाज दुबारा उनकी मदद करने में नहीं कतराएगा। यह विश्वास भी उतना ही सत्य है जितना उनका अपनी जर्जरित अवस्था पर विषाद- और तब इन सारे अन्तर्विरोधी सत्यों के झमेले में जज (न्यायाधीश) की कुर्सी पर बैठकर कोई अंतिम फैसला देना कितना कठिन हो जाता है कि उनकी इस हालत के लिए कौन उत्तरदायी है- समाज, ज़मींदारी प्रथा, धर्म या बाप-बेटे की अपनी अकर्मण्यता।” (शताब्दी के ढलते वर्षों में, नयी दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1995, पृ. 27) चूँकि कहानी में निरूपित समस्या के मूल में इन सबकी सक्रिय भूमिका

अपने-अपने अनुपात में देखने को मिलती है, अतः सामाजिक इस समस्या का समाधान भी इन सभी स्रोतों से प्राप्त कर सकता है। कहानी की जो कथ्य-संरचना समस्या को निरूपित करती है वही समाधान के स्तम्भ और दिशा को भी संकेतित करती है। उपाध्याय जी का अंतिम आरोप है कि 'कफ़न' के ताने-बाने भ्रमजाल बुनते हैं। पर वे यह बताने से रह जाते हैं कि आखिर यह किस प्रकार का भ्रमजाल है। सच्चाई यह है कि ये वे ताने-बाने हैं, जिनके जरिये 'कफ़न' कहानी का जीवन-सत्य और जीवन-यथार्थ उजागर हो पाता है, साथ ही कहानी कहानी बनती है। यह केवल अभिलेखीकरण (Documentisation) को नहीं दर्शाती, बल्कि कालाकरण (Monumentisation) को भी दर्शाती है। इन्हीं ताने-बाने के आधार पर समाज-सामाजिक संरचना और व्यवस्था, धर्म और सत्ता- सभी बौने सिद्ध हो पड़ते हैं। इन्हीं के कारण घीसू और माधव का दार्शनिकीकरण और तथाकथित उदारीकरण देखने को मिलता है। इन्हीं के कारण कहानी अपना कला-सत्य-परजीविता बनाम कर्मण्यता का अन्तर उपस्थित करती है। सामन्ती कर्म-संस्कृति का भविष्य-शिशु भी प्रसूत होने के पहले ही भ्रूण में दम तोड़ देता है। इन्हीं ताने-बाने के कारण अपनी वर्तमयता में यदि कहानी के पात्र विचारों में ढल जाते हैं, तो वे अपनी भविष्यता में एक 'गलत सामाजिक वर्ग' (Wrong social class) और 'गलत भारत' (Wrong India) का बीजांकुरण और पल्लवन करते दीखते हैं। अतः यह उक्ति उपाध्याय जी की बोध-दृष्टि को ही भ्रमजाल से भरी सिद्ध करती है।

'कफ़न' कहानी के उत्तरार्ध में घीसू और माधव के चरित्र में उभरे उदारीकरण और दार्शनिकीकरण को समझने में भी आलोचकों को भ्रांति हुई है। प्रसिद्ध कथाकार और नाटककार भीष्म साहनी ने 'कफ़न : आर्थिक चेतना के जटिल आयाम' शीर्षक आलेख में 'कफ़न' कहानी की आलोचना की है। यहाँ घीसू और माधव के विषय में उनका विचार है कि "मांस-मछली और शराब के सेवन के बाद इनकी इंसानियत जाग उठती है।xx पर शराब पीकर उनकी दबी-कुचली इंसानी हमदर्दी ज़रूर जाग उठती है।xxx इन दोनों का व्यवहार तो बहुत बुरा था, पर इनकी

इंसानियत अभी मरी नहीं है, न ही महसूस करने की इनकी क्षमता। केवल विडम्बना यह है कि शराब पीकर ही ये लोग इंसान बन पाये हैं।" (अपनी बात, दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1990, पृ. 91-92) डॉ. केशव प्रथमवीर ने भी 'कफ़न : प्रश्नों के ताने-बाने' शीर्षक आलेख में इस संदर्भ में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है- "भूख की तृप्तिदायक निवृत्ति के पूर्व वे मानव के चोले में शैतान दिखाई देते हैं और भरपेट मनमाना भोजन मिल जाने के बाद वे हाड़-मांस के अच्छे इंसान बन जाते हैं।xxx प्रेमचंद घीसू-माधव को बड़ी अनोखी मधुशाला में ले गये, जहाँ बोटलों में शैतानों को इंसान बनाने का नशा भर गया था। घीसू और माधव शैतान से साधु बन गये।xxx जब उनका पेट भर जाता है, वे तृप्त हो जाते हैं- उनके हृदय में दया, करुणा, कृतज्ञता, जवाबदेही, अपराधबोध, सद्भावना, सांत्वना, दुःख-शोक, गौरव, आनंद, उल्लास के मानवोचित भाव उभर आते हैं। यही वे संवेदनाएँ हैं, जो किसी मनुष्य को महामानव बना सकती हैं।" (समग्र दृष्टि, पुणे: मास्टर मीडिया पब्लिकेशन्स, जुलाई-2008, पृ. 22 और 24)

'कफ़न' कहानी में सामन्ती संरचना का अन्तर्ग्रन्थन बहुत गहरा है। सर्वहारा घीसू और माधव ज़मींदार कहानी में सामन्ती संस्कार की प्रतिच्छायाएँ हैं। कर्मण्यता की जगह 'परजीविता' इन्होंने सामन्ती संस्कार से ही प्राप्त की है। यह इनके चेतन (Conscious) में बसा है। 'कफ़न' कहानी के आरंभ से लेकर 'कफ़न' खरीदने के पैसे को पूड़ी खाने और शराब पीने में उड़ा देने तक ये सामन्ती संस्कार से प्राप्त परजीविता को ही निर्बन्ध-स्वच्छन्द रूप में आचरित करते हैं। पर खाने-पीने के दौरान और उसके बाद जो इनके चरित्र में उदारीकरण उभरता है, पतल देकर गौरवान्वित और आनन्दित होने का जो भाव आता है वह भी इनमें पल रहे सामन्ती संस्कार के ही कारण। वस्तुतः सामन्ती संस्कार इनके अचेतन में दमित रूप में रचे-बसे हैं। शराब पीने से अचेतन मुखर हो उठता है और इनके भीतर दमित सामन्ती संस्कार भी सक्रिय हो उठता है। तभी माधव ने अपनी ओर भूखी आँखों से देख रहे एक भिखारी को अपनी बची हुई पूड़ियों का पतल उठा कर दे दिया और "देने के गौरव, आनंद और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव

किया।” (मंजूषा, पूर्ववत्, पृ. 24) इसी तरह इनका ऐसे मौके पर धर्म और दर्शन बघाड़ना भी सामंती संस्कार से ही गृहीत है। सामंती व्यवस्था के अभिन्न अंग होते हैं ये! घीसू और माधव के अचेतन में धर्म और दर्शन-विषयक गंभीर टिप्पणियाँ दबी पड़ी हैं। किसी के द्वारा अपना काम सिद्ध होने पर उसके प्रति शालीनता-पूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी सामंती संस्कार की बाह्य संरचना ही है। परजीविता को जहाँ घीसू और माधव खुले तौर पर अपने चेतन मन से ग्रहण करते हैं, वहीं धर्म और दर्शन-विषयक ये सामंती संस्कार उनके अचेतन में दबे पड़े होते हैं, जो शराब पीने के साथ ही मुक्त रूप में अभिव्यक्त होने लगते हैं। अतः यह कहना गलत है कि शराब इनकी मानसिकता को परिवर्तित कर देती है और इन्हें शैतान से मनुष्य बना देती है। किसी धर्माधिकारी की तरह ये स्वर्ग और बैकुण्ठ भेजने या दिलाने के विषय में अपना फैसला वैसे ही सुनाते हैं, जैसे इन अवसरों पर सामंती संस्कार वाले लोग टिप्पणियाँ करने से बाज नहीं आते।

स्मरणीय है कि ‘कफ़न’ कहानी के जरिये एक और तथ्य उजागर होता है। मुक्तिबोध ने भारतीय परिदृश्य में मार्क्सवाद की विफलता का कारण मध्यम वर्ग के आचरण में निरूपित किया और दिखाया है। यद्यपि यह वर्ग सर्वहारा के साथ खड़े होने और उन्हें नेतृत्व देने का दावा करता है, पर यह अभिजात पूँजीपतियों से अपनी उपयोगितावादी दृष्टि के कारण मिल जाता है और क्रांति की संभावनाओं को निःशेष कर देता है। पर ‘कफ़न’ में प्रेमचंद ने मार्क्सवादी विचारधारा की विफलता का जिम्मेदार मानों घीसू और माधव जैसे चरित्रों वाले उभर रहे गलत सामाजिक वर्ग को दिखाया है। इन दोनों का कर्म-संस्कृति से विमुखीकरण और श्रमहीन, परजीवी उपभोगितावाद की ओर उन्मुखीकरण-अर्थात् सामंती संस्कृति का अनुकरण ये ही वे तत्त्व हैं जो मार्क्सवाद को कभी सफल नहीं होने देते।

घीसू और माधव- दोनों ही अपनी परजीवी प्रकृति पर कफ़न नहीं डाल सकते। बुधिया इनकी परजीविता का उत्स है, आधार है। अतः उसको कफ़न नहीं देना अपनी

परजीविता के उत्स को कफ़न नहीं देना है, जो इनके लिए सहज-स्वाभाविक है। एक दूसरे नज़रिये से बुधिया अपने-आप में एक पूरी कर्म-संस्कृति है। वह अपने आचरण में कर्म-संस्कृति को जिलाये रखती है और अन्ततः स्वयं कर्म-संस्कृति बन जाती है। घीसू और माधव- दोनों में अपने जीवन-यथार्थ में अपने आचरण से इस कर्म-संस्कृति पर कफ़न ही तो डाल रखा है। इसलिए भी यहाँ बुधिया को अलग से कफ़न देने का प्रश्न फ़िज़ूल का प्रश्न बन जाता है। क्या घीसू और माधव परजीवी संस्कृति को अपनाकर कफ़न के पैसों से पूड़ी खाकर, शराब पीकर, नाच-गाकर, उछल-कूद कर मदमस्त होकर इस कर्म-संस्कृति पर कफ़न नहीं डाल देते ?

ऊपर विवेचित इन दोनों कहानियों की आलोचना इस रूप में की गयी है कि इन दोनों के कथ्य-मर्म की आंतरिक संरचना का साभिप्राय रहस्योद्घाटन (रेविलेशन) संभव हो सके। आज कहानी की आलोचना को कहानी को गंभीर विधा मानते हुए इस दिशा में मुड़ने और कथालोचना को सार्थकता देने की अपेक्षा है। कहानी की सही आलोचना को विस्तार और गहराई- दोनों में आना पड़ेगा। यहाँ ‘पूस की रात’ की आलोचना के लिए ‘विसंरचनात्मक’ (deconstructionist) पाठ-प्रक्रिया और ‘कफ़न’ की आलोचना के लिए ‘उत्तर-आधुनिकतावादी’ (Post modernist) पाठ-प्रक्रिया को आधार बनाया गया है। पर इस पाठ प्रक्रिया में आलोचक से कुछ-न-कुछ छूट जाता है, उसके वाचन-बोध में ‘मिस’ हो जाता है। यह बहुत स्वाभाविक है। इसी ‘मिसरीडिंग’ से यह संभावना बनती है कि दूसरा आलोचक इस छूटे ‘अंश’ का, ‘मर्म’ का रहस्योद्घाटन करेगा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि कहानी की आलोचना या किसी भी विधा की आलोचना ‘मिसरीडिंग’ (Misreading) को अनुमत करती है, पर वह ‘गलत वाचन’ (Wrong reading) को कभी अनुमत नहीं करती। इसलिए कहानी के आलोचक के ध्यान में ‘मिसरीडिंग’ और ‘रॉगरीडिंग’ का अंतर बराबर बना रहना चाहिए।

संपर्क : ‘साई कृपा’, 58, लाल एवेन्यू, डाकघर-रेयॉन ऍड सिल्क मिल
अमृतसर- 143005 (पंजाब), मो. 09878647468

अमकालीन कहानी : भविष्य की चुनौतियाँ

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

हैनरी मैटिसे जैसे कलाकारों का निश्चित विश्वास था कि वही कला महान होती है, जिस पर अपने ऐतिहासिक युग की छाप सर्वाधिक स्पष्ट होती है, हालांकि कुछ विचारकों का यह भी मानना है कि महान कला अपने ऐतिहासिक समय और परिस्थिति के पार जाती है (लेखक और प्रतिबद्धता, टेरी इग्ल्टन, फ्रेडरिक जेम्सन, अनु. संतोष चौबे, पृ. 23)। ब्रेख्त जैसे प्रतिबद्ध रचनाकारों ने यथार्थवाद के जिस प्रारूप का समर्थन किया है, उसमें चीजों के स्वरूप को हुबहु प्रस्तुत करने की बाध्यता नहीं है। रचनाकार अपनी सुविधानुसार फंतासी और परिकल्पनाओं का उपयोग करने के लिए स्वतंत्र है। एक समय जादुई यथार्थवाद की स्वीकृति और लोकप्रियता भी संभवतः रचनाकारों की इस मानसिकता से प्रेरित रही है कि हमें उन सभी साधनों, पद्धतियों और माध्यमों का उपयोग करना चाहिए जो 'यथार्थ' को पाठक तक संप्रेषित करने में सहायक सिद्ध हों। इधर की कई महत्वपूर्ण हिंदी कहानियों को पढ़ते समय बराबर लगता है कि कहानीकार न केवल वर्तमान विसंगतियों-विडम्बनाओं से जूझ रहे हैं, अपितु वर्तमान से जुड़ी आगत चुनौतियों की भयावहता को भी महसूस कर रहे हैं। कटु वास्तविकता इन कहानियों में परिकल्पना, फंतासी, प्रतीकात्मकता आदि के माध्यम से बहुत प्रभावशाली तरीके से संश्लिष्ट होकर उभरी है। यह अवश्य है कि भविष्य को देखती-आंकती दृष्टि के पैर संक्रमणशील वर्तमान पर मजबूती से टिके हुए हैं।

पिछले दिनों 'मुक्त बाजार व्यवस्था', 'उदारीकरण', 'विश्वग्राम' आदि मुखौटे लगाकर तीसरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों और समूची अर्थव्यवस्था पर हावी हो जाने में सफल रहा है। आज बाजार ही नहीं प्रौद्योगिकी भी साम्राज्यवादी हितों के लिए इस्तेमाल होती है। कीमती इलेक्ट्रॉनिक उपकरण, मँहगी गाड़ियाँ, कीमती प्रसाधन सामग्री-बाजार इनसे पटा पड़ा है, मनुष्य और उसके श्रम का मूल्य निरंतर कम होता जा रहा है। सोहन शर्मा का यह मंतव्य सही है कि आज 'बाजार में कोई सामाजिक मूल्य नहीं होता, आर्थिक मूल्य ही महत्वपूर्ण है' (साम्राज्यवाद बेनकाब, पृ. 12)। भविष्य में बढ़ता हुआ अमानवीकरण किस तरह अवमूल्यन को बढ़ावा देगा, इसका अहसास नमिता सिंह की कहानी 'बीस सौ इक्यावन का दिन' पढ़कर होता है। रिपवान लगभग पचास वर्षों तक अचेत रहने के बाद जब होश में आता है तो सब कुछ बदल चुका है। कुछ सुविधाजीवी खुश हैं- 'हमारे इलाके में हर चीज विदेश से आती है.... बढ़िया,

फर्स्ट क्लास। हमारी फैक्ट्रियों को हमारे सभी संस्थानों को, यहाँ तक कि सरकार को भी यही विदेशी मल्टीनेशनल्स चलाते हैं। आराम के साथ। हम लोग निश्चित हैं.... सुखी हैं।' (मिशन जंगल और गिनी पिग, पृ. 40)। लेकिन आबादी का एक बड़ा हिस्सा दुखी है, जिसे सुखी लोग 'मरभुक्खे' कहते हैं। इन मरभुक्खे गुरिल्लों से अपनी 'सत्ता' को बचाये रखने के लिए फौज जरूरी है और 'व्यवस्था' ने विज्ञान के सहयोग से पुख्ता इंतजाम कर लिया है— '... हिंदुस्तान में भी बायो टेक्नोलॉजी के जरिए वांछित गुण वाले जींस को मिलाकर साहसी, कठोर तथा एक सी शक्तों के भ्रूण प्रयोगशाला में तैयार किये जाते हैं। फिर सरकारी बालगृहों में उन्हें पाला पोसा जाता है और सेना के लिए तैयार किया जाता है, (मिशन जंगल और गिनी पिग, पृ. 43)। नमिता सिंह की एक अन्य कहानी 'मिशन जंगल और गिनी पिग' में फौज में ह्यूमन क्लोनिंग के इस्तेमाल और उसकी अमानवीयता का भयावह रूप केन्द्रस्थ है। 'दिमागों की इंजीनियरिंग' मनुष्य की संवेदना के स्नायु केन्द्रों को नष्ट करने में सफल हो जाती है। जितेन्द्र भट्टिया की कहानी या 'अगले अँधेरे तक' का मैं सन् 1942 में बेहोश होता है और दो हजार सत्तानवे में होश में आता है। वह पाता है ओजोन की पर्त नष्ट हो गयी है, चिड़ियाँ समाप्त हो गयी हैं। सामूहिक आत्म-हत्याएँ प्रचलन में हैं। पूर्व वालों और पश्चिम वालों में युद्ध होते रहते हैं, रिटार्डान गैस लोगों की बलि लेती रहती है। मनुष्य पर मशीनें हावी हैं।

'जिन मशीनों को हमने अपने हाथ से बनाया आज वे ही हमसे ज्यादा ताकतवर बन कर हमारी छाती पर सवार हो गयी हैं।' पूरी कहानी मनुष्य और मनुष्य की संवेदना के क्षय और लगभग तिरोहित हो जाने की त्रासदी का बयान है। जार्ज आखेल ने '1984' और 'एनीमल फार्म' आदि कृतियों में जिस अमानवीयकरण की कल्पना की थी और जो भविष्य में कई जगहों पर भयानक यथार्थ बनकर उभरा भी, जैसे ही आगामी विभीषिकाओं का बहुत कुछ वास्तविक आभास इन कहानियों में विद्यमान हैं।

भविष्य का एक दृश्य राहुल सांकृत्यायन ने देखा था। अपनी कृति 'बाईसवीं सदी' में वे निश्चित हैं कि युद्ध,

गरीबी जैसी विभीषिकाएँ नहीं रहेंगी। एक विश्व सरकार बन चुकी होगी जो रंगभेद, जातिभेद, देशभेद से ऊपर होगी। लेकिन आज हिंदी का रचनाकार भविष्य के विश्वव्यापी 'अमानवीयकरण' को ही देख पा रहा है, जो वर्तमान की भयावहता का सच्चा उत्तराधिकारी हो सकती है। प्रदीप पंत ने अपने एक व्यंग्य लेख 'बाईसवीं सदी का भारत' में कल्पना की है कि भारत अत्यधिक उन्नत राष्ट्र बन चुका है। गरीबों का सफाया करके समृद्धि आनी ही थी। यह सफाया अमेरिकी सरकार के अनुकरण पर किया गया, जिसने गैस चैम्बरों में दूँस कर जाहिल काले लोगों का सफाया किया था। जाहिर है, यह 'आईडिया' उन्हें हिटलर से मिला होगा।' (पाखी, दिसम्बर 2008, पृ. 71)। आज के परिदृश्य को देखते हुए यह संभावना वायुवीय नहीं लगती।

जर्मन लेखक कार्ल-मार्कुस गाउस ने अपने कई निबंधों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के मनुष्य-विरोधी हो जाने के हादसों की चर्चा की है। जो आविष्कार इंसान का दुख कम कर सकते हैं, वे अजीबोगरीब ढंग से उसका मानसिक संतुलन बिगाड़ रहे हैं। कहीं दो आँखों की जगह तीन आँखों वाले मनुष्य के निर्माण की योजना है, मृत्यु से बचा रह जाय, ऐसा मनुष्य बनाने के प्रयास जारी हैं। कोशिश है कि हमारी नस्ल इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों की मदद से विकास के ऐसे चरण में पहुँच जाये जहाँ 'देह' की जरूरत न रहे। कार्ल-मार्कुस गाउस के अनुसार— 'इलेक्ट्रॉनिकी द्वारा मानव जाति का परिष्करण करने के सपने लेने वाले मास्टर इस जाति का देवदूतिकरण करना चाहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप यह नस्ल विकसित होकर देह रहित, देवदूतों की तरह कष्टों और भौतिक तत्त्वों की असुविधाओं से मुक्त रह सकेगी' (भविष्य आज, अनुवादक अमृत मेहता, पृ. 33)। कौन कह सकता है कि सत्ताधारी शक्तिशाली वर्ग ऐसी नस्ल का इस्तेमाल अपने हितों के लिए नहीं करेगा। चाहे संचार माध्यम हो चाहे बाजार हो, साम्राज्यवादी शक्तियाँ इन्हें अपने वर्ग हितों के अनुरूप समायोजित और व्यवस्थित करती हैं। क्षमा शर्मा की कहानी 'सीधा प्रसारण' एक विज्ञापन की चर्चा से शुरू होती है। एक प्रसारण कंपनी तीन अपराधियों को फाँसी दिये जाने का सीधा प्रसारण कर दर्शकों को क्रूर और हिंसक बनाने का काम

तो करती ही है, उससे पैसा भी कमा रही है। दर्शक हिंसा का एनज्वाय करते हैं, उनकी संवेदनाएँ उनका साथ छोड़ देती हैं। जो दर्शक अचानक बिजली चले जाने से क्लाईमेक्स नहीं देख पाए, वे हाथ में फंदे लेकर बिजली कर्मचारियों की तलाश में निकल पड़े हैं (कहानी संग्रह, इक्कीसवीं सदी का लड़का)। कहानीकार ने निष्कर्ष निकाला है 'सत्ता लोगों में विश्वास पैदा करने के लिए अपनी ताकत दिखा रही है और स्पान्सर्स एड् कैश करने के लिए।' जो संचार माध्यम जनता का दुःख दर्द बाँटने, उसे संगठित करने के लिए उपयोगी हैं, वे गलत हाथों में पड़कर नकारात्मक प्रवृत्तियों को एकजुट करने में सहायक होते रहेंगे।

जयनंदन ने 'आई.एस.ओ. 1000' शीर्षक कहानी में दिखाया है कि किस तरह नयी आर्थिक नीतियों की आड़ में पूँजीपति वर्ग फला-फूला है और वह मुनाफे के लिए किसी भी अमानवीयता तक जाने को तैयार है। एक मजदूर 1600 डिग्री सेंटीग्रेड तापक्रम पर पिघले हुए इस्पात-कुंड में गिर जाता है। प्रबंध तंत्र इसे दुर्घटना स्वीकार नहीं करता और उस मजदूर को उस दिन अनुपस्थित दिखा दिया जाता है। कम्पनी को 'आई.एस.ओ. 1000' का प्रमाण पत्र प्राप्त करना है। इसलिए प्रत्यक्ष द्रष्टाओं को धमका कर मौन कर दिया जाता है। इस हादसे पर तरुण का प्रश्न है- 'इस व्यवस्था में क्या हम संवेदना, भावुकता, इंसानियत और रिश्ते पर आधारित अपनी संस्कृति की परिभाषा बदल डालेंगे केतन?' लेकिन भावी आशंका और भी भयावह है। यदि जिन्दा आदमी के इस्पातकुंड में मिक्स होने से इस्पात की क्वालिटी बढ़ने की बात पुष्ट हो गयी तो अमानवीय प्रबंधतंत्र रोज एक जिन्दा आदमी की बलि लेने से नहीं चूकेगा (कहानी संग्रह- 'घर फूँक तमाशा')। बाजारवाद का यह कुत्सित चेहरा है, जिसे हिंदी कहानीकार निर्भयता पूर्वक नोच लेना चाहता है। इस बाजारवादी आँधी में कारखाने जानबूझ कर बंद किए जाते हैं ('घर फूँक तमाशा-जयनंदन) लोगों को मान-सम्मान बेचने के लिए बाध्य किया जाता है। ('विस्थापन', पुन्नी सिंह)। अपना घर-द्वार छोड़कर पलायन एक सामान्य दुर्घटना है। खेत, जंगल सब सौदागरों ने खरीद लिए हैं। विजय ने 'नागमणि का खो जाना' में पलायन को बाजारवाद की अनिवार्य परिणति

माना है- 'जब पूरा मुल्क अमेरिकी स्टॉकबाजार में खड़ा हो, उम्मीद का भाव क्या नीचे गिर सकता है। ऐसे में जो मुक्ति चाहेगा, उसे पलायन के अलावा क्या कोई चारा दिखायी दे सकता है?' (कहानी संग्रह- वंशबेल)।

प्रौद्योगिकी और बहुराष्ट्रीय उपनिवेशवाद के गँठजोड़ ने जो बाजारवादी मानसिकता विकसित की है, उसने मनुष्यों विशेषतः मध्यवर्ग के भीतर 'भस्मासुरी भौतिक लिप्साओं' को जन्म दिया है। चाहे मॉडलिंग और अभिनय का क्षेत्र हो या विदेश जाने की लिप्सा हो, दूसरों की शर्तों पर अपनी देह और आत्मा को भी बेच कर मनचाहा कमाने की होड़ में मूल्य, रिश्ते नैतिकता सब कहीं पीछे छूट जाते हैं। बाजारवाद से जुड़ी अमानवीयता का एक बड़ा और सर्वग्रासी दुष्परिणाम यह है कि इसने 'घर' को भी लहुलुहान कर दिया है। नैतिकता, ईमान और पारिवारिक रिश्ते अब बाजार की शर्तों की अनुरूप निर्धारित होते हैं। नीलाक्षी सिंह की कहानी 'प्रतियोगी' में 'दुलारी' और 'छक्कन प्रसाद' के रास्ते अलग-अलग हो गये हैं। छक्कन प्रसाद 'चाऊमीन', 'साफ्टी', 'पेप्सी के जरिए पत्नी दुलारी के धंधे पर चोट करते हैं तो दुलारी 'चार जलेबियों की खरीद पर दो कचौरी और एक कप चाय मुफ्त' की स्कीम से बाजार में बनी रहती है। यह कहानी एक ग्रामीण अंचल की चौमुहानी का यथार्थ है। महानगरीय जीवन में बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद ने क्या-क्या गुल खिलाए होंगे, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। मधु कांकरिया की कहानी 'पोलिथिन में पृथ्वी' में भ्रूण हत्या को रोकना डॉ. सौमित्र का मिशन है। लेकिन उनके मिशन की उड़ान पर एक दिन बिजली गिर पड़ती है, वह भी उनके अपने ही घर में उनकी गर्भवती पुत्रवधू दो महीने और दो ग्राम के पिंड से छुटकारा पा लेती है क्योंकि वह उसकी विदेश यात्रा में बाधक था- "पासपोर्ट-वीजा सब बनने में अंतिम राउंड में थे कि बीच में ही यह मुसीबत। अब दिन पर दिन बढ़ते गर्भ और घटते सौन्दर्य के साथ यूरोप जैसे चकाचौंध वाले महादेश में भ्रमण? औपनिवेशिक मानसिकता में पली उस भारतीय वधू के लिए वह नामुनकिन था और यूरोप यात्रा स्थगन? इस तृष्णा से कौन उठ सका है ऊपर?" (नया ज्ञानोदय, अप्रैल 2008, पृ. 57)। डॉ. सौमित्र हालांकि सर्वथा निराश नहीं

होते हैं, लेकिन वे जानते हैं कि हर संवेदनशील व्यक्ति के भीतर जो चाकू घोंप दिया गया है, वह कितना घातक है! निसंतान दम्पतियों के लिए 'सैरोगेट मदर' की अवधारणा निश्चय ही आशा की एक किरण है। लेकिन यह भी एक धुंध की तरह सामने आयी है। वात्सल्य, मातृत्व की जगह कमाई ने ले ली है। सुषमा मुनीन्द्र ने 'अपना ख्याल रखना' में जहाँ 'कमाई' की मनोवृत्ति को रेखांकित किया है, वहीं एक सुखद आश्वस्ति है कि भावना या संवेदना के धरातल पर सब कुछ समाप्त नहीं हुआ है। संजना, सुगम से सौदा करती है। हालांकि सौदा उसकी मजबूरी है। वह कुटुम्ब की पहली विद्रोहिणी बनती है, सैरोगेट मदर बन कर धन कमाती है, अपनी गरीबी से मुक्ति के लिए। वह इस बार प्राकृतिक तरीके से- सुगम से सहवास करके माँ बनती है। सौदे या समझौते की शर्तें पूरी होती हैं बस एक छोटी दुर्घटना हो जाती है कि संजना सुगम से प्रेम करने लगती है। कारोबारी मनोवृत्ति पर सहज संवेदना भारी पड़ जाती है। सुगम भी कोरा व्यापारी नहीं बन पाता। उसे पश्चाताप है- 'उसने संजना को यंत्र की तरह इस्तेमाल किया, बच्चा न देने जैसा संदेह किया, सैरोगेसी को कारोबार की तरह देखने का लोभी समझा, सतर्क बल्कि आतंकित रहा कि उसके आचरण से आनंद न झलक जाए...' (वर्तमान साहित्य, मार्च 2009, पृ. 31)। इस कहानी का यह संकेत सकारात्मक और ध्यानाकर्षक है कि स्वार्थी, मशीनों, पैसों के बोझ तले भी मानवीय संवेदना थोड़ी बहुत बनी रहेगी, अर्थात् मनुष्यता बची रहेगी। 'मिशन जंगल और गिनी पिग' में उषा की उपस्थिति मानवीय जीवन्तता की उपस्थिति है। 'खुला आसमान', 'सबरे की खुशनुमा, मस्त हवा', 'बारिश की बूंदों की ठंडक' में सुख पाने वाली उषा प्रमाण है कि मानवीय संवेदनाएँ सर्वथा विलुप्त नहीं होंगी। 'वापसी के नाखून' में नरेन्द्र नागदेव जिस नतीजे पर पहुँचे हैं, वह समृद्धि-सत्ता की अलग दुनिया में रहने वाले लोगों का स्पष्ट प्रतिवाद है और मनुष्य के हक में है- "...दुनिया को वे सुन्दर नहीं बनाते, जो अपनी अलग दुनिया में जीते हैं, ...दुनिया सुंदर बनती है, उस सहज स्नेह से जो आधार है बंधु, इस ब्राह्मण्ड में जीवन के परिचालन का।" 'अगले अंधेरे तक' में जितेन्द्र भाटिया ने ऐसे लोगों का उल्लेख किया है, जिनमें 'जिन्दा रहने की ललक' है। ये लोग दुनिया को सुन्दर बनाने के लिए ही जूझ रहे हैं। भविष्य की कठिन चुनौतियाँ कहानीकारों के सामने हैं, अभी वास्तविकता के धरातल पर अँधेरे ही अँधेरे हैं लेकिन इस कहानियों की यह व्यंजना बहुत मूल्यवान है कि अँधेरा हमेशा नहीं रहेगा।

संपर्क :

डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़- 202001 (उ.प्र.)

मो. 09837004113

विजय मोहन सिंह की कथा दृष्टि और हिंदी कथा आलोचना

रामनिहाल गुंजन

विजयमोहन सिंह (1936-2015) का स्मरण आते ही मुझे वे दिन और वे लोग याद आने लगते हैं, जिनसे मैं उन दिनों मिला था और जिनसे मेरे साहित्यिक सरोकार बने थे। डॉ. रमेश कुंतल मेघ, डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, डॉ. जितराम पाठक, डॉ. चंद्रभूषण तिवारी और विजयमोहन सिंह से मेरा उन्हीं दिनों मिलना हुआ था, जब मैं अपनी पढ़ाई समाप्त कर नौकरी की तलाश में था। यह 1960 के आसपास का समय था जबकि उपर्युक्त सभी व्यक्ति आरा में प्राध्यापक थे। चंद्रभूषण तिवारी 1964-65 में जैन कॉलेज में प्राध्यापक नियुक्त हुए थे। उसके पहले वे जैन स्कूल में शिक्षक थे तथा उन्हीं दिनों वे सागर विश्वविद्यालय से आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के निर्देशन में सौन्दर्यशास्त्र पर अपना शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर डॉक्टरेट की डिग्री प्राप्त कर लौटे थे। उस समय तक रमेश कुंतल मेघ, रवीन्द्र भ्रमर, जितराम पाठक और विजयमोहन सिंह महाराजा कॉलेज, आरा में प्राध्यापक के रूप में कार्यरत थे। विजयमोहन सिंह से मेरा संपर्क उन्हीं दिनों हुआ था। वे उन दिनों आरा से 'संबोधन' नामक एक अनियतकालिक पत्रिका का संपादन-प्रकाशन भी कर रहे थे, जिसमें उन्होंने शेखर जोशी रवीन्द्र वर्मा, रामकुमार भ्रमर, गंगा प्रसाद विमल, सुखवीर, अक्षोभ्येश्वरी प्रताप आदि की कहानियाँ प्रकाशित की थी। उसके एक अंक में विजयमोहन सिंह ने राजेन्द्र यादव के संपादन में प्रकाशित पुस्तक- 'एक दुनिया: समानान्तर' की समीक्षा 'स्कूली परंपरा से अलग' शीर्षक से लिखी थी। संग्रह में 50 और 60 के बीच उभरने वाले कथाकारों की कहानियाँ संकलित थी, जिन पर उनकी टिप्पणी थी- 'संकलन में श्रीकांत, विजय चौहान, प्रबोध, कालिया, महेन्द्र भल्ला आदि नहीं हैं तो प्रयाग शुक्ल क्यों हैं।' जाहिर है, उनके इस कथन से उनकी कथा-चेतना का भी पता चलता है।

दरअसल यह 1960 के बाद की कहानियों का दौर भी था। उसके पहले 50 के बाद की कहानियों का दौर समाप्त हुआ था, जिसे नई कहानी का दौर भी कहा जाता है। उस दौर की कहानियों पर लिखते हुए नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कहानी: नई कहानी' (1989) में लिखा था कि 1956-65 के कथा दशक की चिंतन-यात्रा को एक पगडण्डी मानकर मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है और नयी कहानी पर लिखे अपने पहले निबंध- 'आज की हिंदी कहानी' में शिल्प और प्रयोग के आधार पर कवियों और कहानीकारों में समानता प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। इस प्रसंग में मार्कण्डेय ने एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा था कि, "60 के बाद एक संक्षिप्त अरसे तक कहानी इसी उहापोह में फंस भी गयी थी लेकिन पूँजीवाद के बढ़ते हुए संकट के कारण देश में व्यापक जनवादी आंदोलन तेज हुए, समस्याएँ निरंतर उग्र रूप धारण करती चली गई और नयी पीढ़ी ने देश के भविष्यहीन जीवन की सच्चाईयों को पहचानने में भूल नहीं की। अपने समय की वास्तविकता की उनकी पहचान प्रखर हुई, क्योंकि जनवादी संघर्षों की गति आज पहले की अपेक्षा अधिक तेज है।" (कहानी की बात- संस्करण 1984, पृष्ठ- 9) जाहिर है, उन दिनों नामवर सिंह 'हाशिये पर' और मार्कण्डेय 'जो लिखा जा रहा है' जैसे स्तंभ लिखते हुए नयी कहानी पर अपने विचार व्यक्त कर रहे थे और देश की तत्कालीन समाजिक और राजनीतिक स्थितियों पर नामवर सिंह की अपेक्षा मार्कण्डेय की बातें ज्यादा साफ तौर पर सामने आ

रही थी। हालांकि उन दिनों देवीशंकर अवस्थी की पुस्तक 'नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति' (1973), सुरेन्द्र चौधरी की पुस्तक 'हिंदी कहानी: प्रक्रिया और पाठ' (1963) तथा कमलेश्वर की 'नयी कहानी की भूमिका' (1978) सामने आ चुकी थी, लेकिन उन स्थितियों को नजरअंदाज करने की कोशिश की गयी। सुरेन्द्र चौधरी ने इतना जरूर लिखा कि हिंदी कहानी का विकास प्रत्येक युग में होता रहा है। उनके शब्द हैं- "वस्तुतः रचनाधर्मी कहानीकार कथा-साहित्य के विकास के प्रत्येक युग में रहे हैं और रहेंगे, ठीक वैसे ही जैसे व्यापार धर्मी रहे हैं और रहेंगे।" (हिंदी कहानी: प्रक्रिया और पाठ, संस्करण 1995, पृष्ठ 16)

कहने की आवश्यकता नहीं कि नई हिंदी कहानी की बाद में आलोचना भी हुई, लेकिन अगर मार्कण्डेय की उक्त बातों को ध्यान में रखा जाय तो जिस वास्तविकता की ओर उनका इशारा था वह नई कहानी में प्रासंगिक होने का आधार भी बन सकती थी। कहने का अर्थ यह है कि मार्कण्डेय ने नयी कहानी को वैचारिक स्तर पर अलगाने का भी काम किया। हालांकि बाद के कुछ आलोचकों का ध्यान भी नयी कहानी के इस विचार-बिंदु की ओर गया, लेकिन उसका व्यापक अध्ययन और विश्लेषण नहीं हुआ। देवीशंकर अवस्थी ने नामवर सिंह के बरक्स नयी कहानी के शिल्प और शिल्प के यथार्थ और यथार्थ के शिल्प पर भी विचार किया लेकिन सिर्फ वही पर्याप्त नहीं था। दरअसल मार्कण्डेय ने आगे चलकर जिस सच्चाई की ओर इशारा किया वह उन दिनों भी गौरतलब था और आज भी बहस तलब है। उनका मानना था कि 'स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों में कहानी चर्चा के केंद्र में थी, लेकिन कथा-आलोचना की किसी परम्परा के अभाव में कुछ आलोचक नितांत वैयक्तिक अथवा सैद्धांतिक स्तरों पर कहानियों की समीक्षाएँ किया करते थे। नये कहानी- आंदोलन की बहुआयामी प्रकृति का साथ देने के लिए कहानी के साथ आलोचना का जैसा विकास होना चाहिए था वह नहीं हो पाया था। कविता की आलोचना पद्धति नयी कहानी की वास्तविक व्याख्या के लिए अक्षम थी। इस समय कहानियों की रचनात्मक गहराइयों को विश्लेषित करने के लिए जिस विकसित समीक्षा-पद्धति की आवश्यकता थी उसे लेकर

लेखकों और आलोचकों में बहस की शुरुआत भी हुई, लेकिन बात बनी नहीं।' (कहानी की बात, पृ. 7) जाहिर है कि मार्कण्डेय ने सीधे-सीधे नामवर सिंह की कविता की आलोचना-पद्धति की आलोचना करते हुए उनकी कथा आलोचना पर सवाल खड़े किये थे। दरअसल यह हिंदी आलोचना के साथ-साथ हिंदी कहानी के वैचारिक आधार के भी संकट का दौर था जिसका प्रमाण नयी कहानी आंदोलन से जुड़े अधिकांश लेखकों- अशक, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा, शिव प्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती आदि की कहानियों में साफ तौर पर देखा जा सकता है। इस प्रसंग में मार्कण्डेय ने प्रगतिशील दृष्टि सम्पन्न नये कथाकारों का प्रतिनिधित्व करते हुए परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज करने की जरूरत पर बल देते हुए लिखा था- "वस्तुगत संदर्भों में दूर-दूर तक नयी कहानी के प्रवेश के पीछे यही सामाजिक स्थितियाँ काम कर रही थी जो कई बार उद्देश्यहीनता तथा पूर्वकालिक चरित्रों अथवा कथा प्रसंगों के मोह का कारण भी बनती थी लेकिन कुल मिलाकर या नये कहानी लेखकों के लिए काल्पनिक और झूठे प्रत्ययों के निर्माण से बचने का कठिन प्रयास अथवा यथार्थवादी श्रेष्ठ रचना के सृजन के लिए पूर्वाभ्यास था। उनका ख्याल था कि जनता के संघर्षों की रचना इसी जमीन से उगेगी। परिवर्तन की यह प्रक्रिया को शुरू और तेज करने की कार्यवाहियों की आधारभूमि भी यही है।" (उपर्युक्त, पृ. 8) कहने की आवश्यकता नहीं कि नयी कहानी का मूल्यांकन करने के क्रम में मार्कण्डेय के उपर्युक्त विचार प्रासंगिक और सहायक सिद्ध होंगे। और बाद में देखा गया कि मार्कण्डेय, शेखर जोशी, अमरकांत और भीष्म साहनी जैसे कहानीकारों की कहानियाँ प्रेमचंद की यथार्थवादी कथा परम्परा को ही आगे ले जाने वाली प्रमाणित हुईं। जबकि '60 के बाद की कहानियाँ इसके विपरीत साबित हुईं। यों दूसरी ओर विजय मोहन सिंह ने अपनी पुस्तक 'आज की कहानी' में गुलेरी, प्रेमचंद, मुक्तिबोध, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, धर्मवीर भारती, रामकुमार, निर्मल वर्मा, मन्नू भंडारी, अमरकांत, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, विजय चौहान, प्रयाग शुक्ल, रामनारायण शुक्ल, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया,

उग्रसेन सिंह आदि कहानिकारों पर लिखे लेखों के जरिये यह अवश्य सूचित करने का प्रयत्न किया है कि उन्होंने गुलेरी और प्रेमचंद से लेकर 60 के बाद के कथाकारों तक की कहानियों पर विस्तार से लिखा है, लेकिन उन्होंने जिन महत्वपूर्ण कथाकारों— यशपाल, रेणु, परसाई, मार्कण्डेय, इसराइल को सिरे से नजरअंदाज करने का प्रयास किया है, उसके पीछे वैचारिक कारण ही प्रमुख था। अगर वे उन कथाकारों की रचनाओं की चर्चा करते तो संभव था उनके सामने वैचारिक संकट उपस्थित हो जाता और उनकी कहानियों की वर्गीय आधार पर व्याख्या प्रस्तुत करने में उन्हें अपनी अक्षमता का अहसास हो पाता। दरअसल विजयमोहन सिंह एक गैर प्रगतिशील कथा समीक्षक होने के कारण कई प्रकार की रूढ़ियों और अंतर्विरोधों से ग्रस्त थे, जिसका स्पष्ट प्रभाव उनकी कथा दृष्टि और चेतना पर भी पड़ा था। उस दृष्टि से की गई समीक्षाओं की सीमा भी स्पष्ट थी। उनकी रुचि और प्रवृत्ति उन लेखकों और कलाकारों में ज्यादा थी जो यथार्थवादी न होकर कलावादी और आदर्शवादी थे। यह प्रवृत्ति उनकी सोच और वर्गीय आधार के बीच सूचित करती है। इस प्रसंग में उनके कथा संबंधी कतिपय विचार-बिंदुओं को देखा जा सकता है जो इस प्रकार हैं—

1. 'यह कहना भी आसान नहीं है कि प्रेमचंद के जेहन में अपने समाज का कौन सा वर्ग या समूह प्रमुख था जिसे ध्यान में रखकर उन्होंने अपनी ज्यादातर कहानियाँ लिखीं।' (आज की कहानी, पृ. 18)
2. 'नैतिक प्रश्नों से मुक्तिबोध जिस तरह टकराते हैं वह उन्हें सौंदर्यवादी नहीं बनाता।... रचना-प्रक्रिया की प्रचलित प्रभावान्विति की दृष्टि से देखे तो मुक्तिबोध की सारी कहानियाँ अधूरी लगती हैं।' (वही, पृ. 27)
3. 'राकेश ही संभवतः अकेले कहानीकार हैं, जिनके माध्यम से नयी कहानी के पूरे विकास को सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।' (वही, पृ. 37)
4. 'मेटामाफोसिस की प्रतीकात्मकता आरोपित नहीं है, युगीन दबाव से उत्पन्न नितांत स्वभाविक अनुभूति है।' (वही, पृ. 46)
5. 'हिंदी में आम तौर पर गली-बाजार, खोमचे वाले

क्लकों, मजदूरों और किसानों पर लिखने वालों को यथार्थवादी समझा जाता रहा है और रइसों, रजवाड़ों, जमींदारों, होस्टल-रेस्तराओं के बारे में लिखने वाले लोगों को प्रतिक्रियावादी! (वही, पृ. 51)

6. 'आखिर वह कौन सा अंधेरा, अभिशाप तथा टेरर है, जिसमें आज का कथाकार और एक हद तक आज का आदमी जी रहा है क्योंकि गौर करे तो निर्मल की प्रत्येक कहानी के पात्र इसी अंधेरे, आतंक तथा टेरर में रहते हैं?' (वही, पृ. 59)

7. 'नयी कहानी के प्रमुख समीक्षक डॉ. नामवर सिंह ने अपने निबंधों में उनका (अमरकांत का) यथास्थान उल्लेख अवश्य किया है और कभी-कभी उनकी विरल विशेषताओं की ओर ध्यान भी आकृष्ट किया किंतु निर्मल वर्मा की तरह उनके प्रिय कहानीकार वे कभी नहीं बन सके।' (वही, पृ. 73)

8. शेखर जोशी 'नयी कहानी' के बिल्लेधारी कहानिकारों में शामिल किये जाकर भी उसी तरह उनसे अलग हैं जैसे अमरकांत।' (वही, पृ. 78)

9. 'परिवर्तन की इस प्रक्रिया (60 के बाद की कहानियों के प्रसंग में) को संबंधों में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है— 'संवेदना' में परिवर्तन का सबसे पहला और गहरा प्रभाव संबंधों पर होता है। इसलिए पिछले वर्षों की कहानियाँ मूलतः संबंधों की कहानियाँ हैं। संबंध चित्रण में लेखक सबसे अधिक ईमानदार होता है और अधिक आत्मविश्वास पूर्ण।' (वही, पृ. 83)

10. 'दूधनाथ सिंह एक सीमा तक ऐसे संस्कारशील कहानीकार हैं जिन्होंने कहानीपन की परम्परा को बड़ी सतर्कता, कौशल और कारीगरी के साथ ग्रहण किया।' (वही, पृ. 90)

11. 'रवीन्द्र कालिया, गंगा प्रसाद विमल, महेन्द्र भल्ला आदि की कहानियाँ एक भिन्न मानदंड की मांग करती हैं, समाज के एक अलग कोण से उन्हें देखना पड़ता है— पर एक पुरानी कहानी के बीच या लड़के को सी ऑफ करके लौटी लड़की या 'दूसरे का भोग' में अपनी माता की प्रेमी से सटी हुई लड़की एक निश्चित मनोवैज्ञानिक सत्य को व्यक्त करती है।' (वही, पृ. 100)

12. 'साठोत्तरी पीढ़ी के अनेक कहानीकार जिन दिनों अपने ढंग तथा नये ढंग से विश्लेषणपरक कहानियाँ लिखने में लगे हुए थे और पूरी क्षमता के साथ अपने समय के आदमी तथा उसके दिमाग को समझने में लगे हुए थे (खास तौर पर ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह आदि)।' (वही, पृ. 110)

13. काशी की कहानियाँ अपनी व्यक्त रूप की आसानी या सुगमता के बावजूद ज्यादातर पाठकों या समीक्षक को आसान नहीं रहने देती। वे पेचिदगियों दर पेचिदगियाँ पैदा करती हैं।' (वही, पृ. 135)

जाहिर है विजयमोहन सिंह की प्रेमचंद की कहानियों के बारे में भिन्न धारणा थी अन्यथा वह यह नहीं कहते कि उनके जेहन में कौन सा वर्ग प्रमुख था हालांकि प्रेमचंद की कहानियों का विश्लेषण करते हुए उन्हें एकाएक अहसास होता है कि 'प्रेमचंद किसी 'खास' के कहानीकार नहीं है, चाहे वह 'व्यक्ति' हो या 'वर्ग'।' (आज की कहानी, पृ. 10) दरअसल विजयमोहन सिंह ने वर्गीय अवधारणा के तहत कहानियों का विश्लेषण नहीं किया है, इसलिए वे प्रेमचंद या किसी भी प्रगतिशील या जनवादी कथाकार को किसी खास वर्ग का लेखक नहीं मानते हैं। यहां तक कि वे जिन कथाकारों-रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला आदि को प्रिय कथाकार मानते हैं उन्हें भी वे किसी खास समूह या वर्ग का नहीं मानते हैं जबकि यह बात स्पष्ट है कि कोई भी रचनाकार किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता ही है। इसी अर्थ में उनके प्रिय कथाकार बुर्जुआ-वर्ग की रुचियों और आशा-आकांक्षा के अनुरूप अपनी कहानियों की रचना करते हैं। खुद विजयमोहन सिंह भी जब कहानियाँ लिखते थे तब वही वर्ग उनकी दृष्टि में होता था। उनकी कहानी 'एक बंगला बने न्यारा' का कथा-नायक अपनी सामंती संस्कारों का परिचय देते हुए जब यह कहता है कि "हरि भजना हलखोर जिसका परिवार हमारा पुश्तैनी मेहतर था और जिसे खुद मैंने दो बीघा जमीन दी थी- मेरी कोठी की तरफ हाथ उठा-उठाकर चिल्लाता है, इनकी ईंट से ईंट बजा देंगे, नेस्तो-नाबूद कर देंगे- ये शोषक है" तब उसका वर्गीय चरित्र स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है। ऐसी स्थिति में विजयमोहन सिंह के जेहन में प्रेमचंद की

कहानियों का वर्गीय स्वरूप कैसे आ सकता है! कहने की आवश्यकता नहीं कि 'एक बंगला बने न्यारा' कहानी का कथा-नायक स्वयं कहानी लेखक ही है, जिसने अपने संस्कार के अनुरूप ही उक्त कहानी की रचना की है। उनकी कहानियों की चर्चा करते हुए विष्णु खरे ने ठीक ही लिखा है कि "विजय मोहन सिंह ने अब तक कोई ऐसी कहानी नहीं लिखी है जो उनकी प्रतिबद्धता प्रगतिशीलता अथवा जनवादिता की नजीर साबित की जा सके। वे एक खास अर्थ में मध्यवर्गीय और निम्न मध्य वर्गीय मानसिकता के कहानीकार हैं।" ('एक बंगला बने न्यारा' की भूमिका) हालांकि विजय मोहन सिंह ने निम्न मध्य वर्ग की मानसिकता और उसके जीवन प्रसंगों को लेकर नहीं के बराबर लिखा है और इस प्रसंग में उनकी 'अगला दिन', 'विस्तार', 'मकबरे', 'एक अदृश्य शक्ति', 'सहयोग', 'ठंड', 'कबंध', 'आरामगाह के बाहर', 'मास मीडिया', 'संयुक्त परिवार' जैसी कहानियाँ इस बात की स्पष्ट गवाह हैं।

दूसरी ओर मुक्तिबोध की कहानियों और कविताओं के सौंदर्यबोध के बारे में विजय मोहन सिंह की जानकारी बहुत कम या नहीं के बराबर है। मुक्तिबोध मूलतः यथार्थवादी रचनाकार है अतः उनके लिए नैतिक मूल्यों का प्रश्न प्रमुख नहीं है और यह बात उनके जीवन से लेकर रचनाओं तक के उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। उनका जीवन-संघर्ष प्रमाणित करता है कि वे जिस प्रकार की स्थितियों से गुजर रहे थे तथा जिनका अपनी कहानियों और कविताओं में चित्रण करते थे, उनसे स्वतः एक भिन्न प्रकार के सौंदर्यबोध का जन्म होता था, जिसके आधार पर मुक्तिबोध की सौंदर्यवादी अवधारणा को समझने में मदद मिलती है, क्योंकि वे इसी धारणा के तहत 'साहित्य में पक्षधरता', 'विश्वबोध' और 'मानव मूल्य' की वकालत करते थे। जहाँ तक मुक्तिबोध की कहानियों के अधूरेपन की बात है, मुक्तिबोध इसे स्वयं स्वीकार करते थे। हालांकि विजयमोहन सिंह की मान्यता कोई नयी नहीं है और यह कहना कि उनकी सारी कहानियाँ प्रभावान्वित की दृष्टि से अधूरी लगती है, सही नहीं है। 'खलील काका', 'वह', 'मैत्री की मांग', 'जंक्शन' आदि पूर्ण कहानियाँ ही हैं, जिसका मार्मिक प्रभाव पाठक-वर्ग पर पड़े बिना नहीं

रहता। यह बात अलग है कि मुक्तिबोध की कहानियाँ कई बार में लिखी जाती थी तथा एक कहानी के कई प्रारूप मिलते हैं। ऐसे में कहानियों का अपूर्ण रह जाना भी स्वाभाविक है, किंतु ऐसी कहानियों में भी इनकी गहरी और सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि का पता चलता है। बहरहाल, मुक्तिबोध एक बड़े किंतु जटिल चिंतन प्रक्रिया के लेखक होने के बावजूद अपने खंडित और अपूर्ण कहानियों के जरिये भी जीवन के विरल क्षणों की ओर संकेत अवश्य कर देते हैं और सच पूछे तो मुक्तिबोध के रचनागत सौंदर्य के अवलोकन के लिए प्रगतिशील दृष्टि की ही जरूरत होती है जो विजयमोहन के पास नहीं थी। वे नागार्जुन जैसे कवि के बारे में भ्रामक धारणा रखते थे और अकवियों—(जगदीश चतुर्वेदी) आदि की कविताओं के प्रशंसक थे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि विजयमोहन सिंह बुर्जुआ मूल्यों के पक्षधर लेखक-समीक्षक थे। यही कारण है कि मार्कण्डेय, शेखर जोशी और अमरकांत के बजाय वे मोहन राकेश की कहानियों को नयी कहानी की प्रतिनिधि कहानियाँ मानते थे। जिस प्रकार नामवर सिंह कभी निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' को लेकर आत्ममुग्धता से ग्रस्त थे। दूसरी ओर विजयमोहन सिंह की कहानी 'मेटामौफ़ीसिस' की प्रतीकात्मकता को स्वभाविक मानते थे और कथा पात्र की अनुभूति को युगीन दबाव से उत्पन्न मानते हैं जबकि उक्त कहानी की कई प्रगतिशील लेखकों-आलोचकों ने कड़ी आलोचना की। पहले तो उस कहानी में आदमी के काक्रोच में तब्दील होने की बात से ही किसी की सहमति नहीं हो पाती, कारण कि यह नितांत अस्वभाविक स्थिति से गुजरने जैसा है। ऐसी स्थिति की कल्पना काशीनाथ सिंह की कहानी 'लोग बिस्तरों पर' में भी की गई है जो काफ़का के नकल का उदाहरण पेश करती है। दरअसल, फैंटेसी की रचना यथार्थ से पलायन की प्रवृत्ति का सूचक है। इस प्रसंग में हावर्ड फास्ट ने काफ़का की उक्त कहानी पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "एक छाया संसार रचने में, विकृत संसार रचने में, यातनाओं से पीड़ित मानवता का माखौल उड़ाने में काफ़का का निश्चय ही कोई जवाब नहीं। फिर भी ऐसा होता नहीं। दरअसल हम जानते हैं कि आदमी रातों रात काक्रोच में बदल नहीं जाते। फिर काफ़का का उद्देश्य क्या

है? उसने अपने मन में एक समीकरण गढ़ लिया है कि मनुष्य और काक्रोच एक ही है।" यों हावर्ड फास्ट का यह निश्चित मत है कि 'यह अमूर्त रचना प्रक्रिया यथार्थ का विकल्प नहीं हो सकती। यथार्थ से पलायन का तात्कालिक परिणाम साहित्यिक रचना के पतन में होता है।' (साहित्य और यथार्थ, पृ. 12-13)। इस दृष्टि से देखा जाए तो काशीनाथ सिंह की कहानी 'लोग बिस्तरों पर' और दूधनाथ सिंह की 'सपाट चेहरे वाला आदमी' अथवा 'सुखांत' जैसी कहानियों की अमूर्तता की प्रसंग में भी फास्ट की उपयुक्त टिप्पणी याद की जा सकती है। यों दूधनाथ सिंह की कहानी सुखांत के प्रसंग में 'वाम' के संपादक डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का यह कथन अकारण नहीं है कि 'सुखांत' तक आते-आते वास्तविक जीवन की तुलना में उसके स्वप्न, दृश्यों का प्रमुख हो जाना आकस्मिक नहीं है।' (वाम-1 का संपादकीय)

जैसा कि ऊपर कहा गया है विजय मोहन सिंह निर्मल की कहानियों के बड़े प्रशंसक माने जाते हैं और यही कारण है कि उन्हें निर्मल वर्मा की कहानियों में जिस टेरेर, अंधकार और आतंक की अनुभूति प्रायः होती है उसका सामान्यीकरण वे अन्य हिंदी लेखकों की कहानियों में भी करना चाहते हैं जो उनके इस कथन से स्पष्ट होता है कि, 'आखिर वह कौन सा अंधेरा अभिशाप तथा टेरेर है जिसमें आज का कथाकार और एक हद तक आज का आदमी जी रहा है।' लेकिन यह विजय मोहन सिंह की भ्रामक धारणा थी। उन्हीं दिनों की लिखी मार्कण्डेय, शेखर जोशी और अमरकांत की कहानियों में जीजिविषा और कथा पात्रों की संघर्षशीलता और जीवंतता के चित्र आसानी से देखे जा सकते हैं जो विजय मोहन की उक्त धारणा के बरक्स साक्ष्य उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार विजय मोहन सिंह अमरकांत और शेखर जोशी को नामवर सिंह के प्रिय कथाकार नहीं मानते और प्रिय कथाकार होने का श्रेय सिर्फ निर्मल वर्मा को देते हैं। लेकिन वे नामवर सिंह के निर्मल-मोह के परिणाम को भी बाद में देख चुके थे, जिसका जिन्न वे नहीं करते। ये बातें विजय मोहन सिंह के पूर्वग्रस्त दृष्टिकोण को ही सूचित करती हैं। इससे यह भी पता चलता है कि वे कहानी के सामाजिक सरोकारों की उपेक्षा करते थे। दूसरी

ओर, विजयमोहन सिंह जब इस बात का उल्लेख करते हैं कि रवीन्द्र कालिया, गंगा प्रसाद विमल और महेन्द्र भल्ला की कहानियाँ एक भिन्न मानदंड की मांग करती हैं तो वह कौन सा मानदंड होगा, इसका वे जिक्र नहीं करते। इसी से पता चल जाता है कि वे उन कथाकारों की अकहानियों की आँख मूँदकर वकालत कर रहे थे, लेकिन उन्हें इस बात की भी खबर होनी चाहिए थी कि उन्हीं दिनों हिंदी में अकविता की तरह अकहानी की भी कटु आलोचना हो रही थी वैसी स्थिति में तथाकथित लेखकों की अकहानियों के लिए भिन्न मानदंड की मांग करने के अनौचित्य को समझा जा सकता है।

गौरतलब है कि विजयमोहन सिंह '60 के बाद की कहानियाँ' के संपादक के रूप में भी कहानियों पर जो विचार व्यक्त कर रहे थे वे भी तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के मेल में नहीं थे। परिवर्तन की प्रक्रिया का जिक्र करते हुए मार्कण्डेय ने उन्हीं दिनों जिस तथ्य की ओर संकेत किया था उस पर '60 के बाद के कथाकारों ने ध्यान नहीं दिया। विजय मोहन सिंह ने भी '60 के बाद की कहानियाँ' की भूमिका में परिवर्तन की प्रक्रिया का जिक्र किया है, लेकिन वैचारिक रूप से सजग नहीं होने के कारण उनका ध्यान उस बात की ओर नहीं गया, जिसका जिक्र करते हुए मार्कण्डेय ने अपनी पुस्तक 'कहानी की बात' की भूमिका में लिखा था- "यदि जनसंघर्षों से नहीं जुड़ी तो अगली पीढ़ी नयी कहानियों के इस मोहक और अदम्य संदर्भ-विस्तार से आक्रांत होकर प्रकृतिवाद के दलदल में फंस जायेगी और आगे चलकर दृष्टिहीन लेखक भोगे हुए यथार्थ का भ्रम पैदा करके वैयक्तिक अनुभवों के रास्ते फिर कहानी को वस्तुगत संदर्भों से अलग खींच ले जायेंगे।" (कहानी की बात, पृ. 9)।

जाहिर है विजय मोहन सिंह का ध्यान इन बातों की ओर नहीं था जो 60 के बाद की कहानियों के पक्षधर आलोचक और प्रवक्ता भी थे। दरअसल मार्कण्डेय की उपर्युक्त बातें नयी कहानी और 60 के बाद की कहानी के लेखकों के लिए समान रूप से गौरतलब थी, लेकिन उनको नजरअंदाज करने का जो हथ्र हुआ, उससे सभी

अवगत हैं। इस प्रसंग में विजय मोहन सिंह के 60 के बाद की कहानियों के संदर्भ में जो विचार हैं उनकी पड़ताल करना जरूरी है। उन्होंने उक्त कहानियों में चित्रित संबंधों और उनमें संवेदना पर विचार करते हुए लिखा है- "इस बीच की अनेक श्रेष्ठ और सफल कहानियाँ संबंधों पर आधारित हैं। प्रेमी-प्रेमिका के सामान्य संबंधों के अतिरिक्त भी 'माँ' और 'पुत्र' जैसे सीधे, निश्चित और प्रगाढ़ संबंध भी अचानक 'प्रश्न' बन गए हैं।... माँ से 'अलग' होना अपनी 'परंपरा' से अलग होना है (चाहे एक स्थूल प्रतीक में ही)। दूधनाथ सिंह के 'रक्तपात' की माँ भी ऐसी ही माँ है। श्रीकांत वर्मा की प्रेमिकाएँ भी उसी तथ्य को ज्यादा बौद्धिक और व्याख्यात्मक ढंग से पेश करती हैं। इसी प्रकार काशीनाथ सिंह 'आखिरी रात' में पत्नी के साथ एक रात की शुरुआत बड़े खूबसूरत ढंग से करते हैं- बड़े प्यारे वातावरण पर अंत तक आते-आते सब व्यर्थ हो जाता है। एक भी असामान्य वाक्य उस कहानी में नहीं है। वहीं घिसी-पिटी बातें हैं जो पति-पत्नी आपस में करते हैं।" (आज की कहानी, पृ. 83-84) इस प्रसंग में खुद विजय मोहन सिंह की उस दौर की लिखी कहानी 'मकबरे' में पति-पत्नी के संबंधों को भी याद किया जा सकता है। इस प्रकार, देखा जाये तो 60 के बाद की कहानियों पर लिखे लेखों में कहीं से विजय मोहन सिंह अपनी प्रगतिशील समीक्षा दृष्टि का परिचय नहीं देते, जो इस बात का सूचक है कि वैसी कहानियों में परिवर्तन की प्रक्रिया का कोई अपेक्षित प्रभाव नहीं देखा गया। जबकि गंगा प्रसाद विमल और विजय मोहन सिंह जैसे कथा-आलोचक और प्रवक्ता भी उस दौर की गैर-जनवादी, कथा-प्रवृत्ति से बुरी तरह ग्रस्त थे। वैसी स्थिति में उनसे कहानी में सामाजिक सरोकार व वैचारिक बदलाव लाने पर जोर देने की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी, कारण कि तब तक काफी देर हो चुकी थी और उस पीढ़ी के कथाकार और समीक्षक भी अपनी मानसिकता को बदल पाने में पूरी तरह अक्षम सिद्ध हो चुके थे। कहना न होगा कि विजय मोहन सिंह कथा-आलोचना-दृष्टि मुख्य धारा अलग-थलग रहने के कारण उसके विकास में अपना पूरा सहयोग नहीं दे सकी।

संपर्क: नया शीतल टोला, आरा, पिन- 802301(बिहार), मो. 07250201038

छाती-विश्वी संवेदनाएँ

विमल वर्मा

सिद्धेश जी करीब-करीब पाँच दशकों से कथा-संरचना में निरंतर सक्रिय हैं। ऐसे कथाकार के बारे में एक पुस्तक लिखना भी अपर्याप्त है। उन्होंने स्वयं अपनी रचना-प्रक्रिया और कथा आंदोलन के बारे में लिखा है कि “मैं किसी आंदोलन से नहीं जुड़ा, लेकिन घटनाओं और चरित्रों के उद्घाटन में मानवीय सरोकारों के विभिन्न पक्षों का संवेदनात्मक और सकारात्मक दृष्टि से पक्षधर रहा हूँ।”

“सातवें दशक में अ-कहानी के अलावा ऐसी कहानियाँ लिखीं, जिनका असर अब भी कहानियों के तेवर तथा कथ्य एवं घटनाओं की पृष्ठभूमियों पर बना हुआ है।” (गंगु आजाद-एक जनवरी दो हजार चार)

कथाकार ने एक ही पृष्ठ में दो अन्तर्विरोधी वक्तव्य पेश किया है। अतएव रचनाशीलता और साहित्यिक आंदोलन पर गौर करना जरूरी हो जाता है। प्रत्येक आंदोलन इतिहास की आवश्यकता के द्वन्द्व की ही उपज होते हैं फिर वे इतिहास में विलीन हो जाते हैं। कहानी में घटना, संवाद, पात्रों के परस्पर संबंध, कथ्य में उपस्थित मूल समस्या, यथार्थ के द्वन्द्व से निर्मित बोध, संज्ञान, संवेदना काल-प्रवाह में अवतरित होती है। अतएव रचना में व्यक्त समकालीन भावबोध काल-मुक्त कैसे होगा? कलावादी चाहे रचना-सत्ता को, कला परम्परा को, सर्वतंत्र मान लें। इतिहास को भी शाश्वत मिथक घोषित कर दें, प्रत्यय को वस्तु मान लें। साहित्य को शाश्वत रूपों, संरचनाओं की पुनरावृत्ति मान लें। साहित्य को शाश्वत रूपों, संरचनाओं की पुनरावृत्ति मान लें। नार्थोप फ्राई के शब्दों में “साहित्य की दुनियाँ की स्वायत्तता की धारणा के अनुसार साहित्य जीवन और यथार्थ का भाष्य नहीं है, लेकिन इसके भाषिक संबंधों की व्यवस्था के भीतर जीवन और यथार्थ का समावेश है।” (एनाटामी ऑफ क्रिटिसिज्म 1957 पृ. 122) कालान्तर में 1971 तक आते-आते ‘मार्डन सेंचुरी’ में उन्होंने “मानव समाज के इतिहास को शाश्वत मिथक व्यवस्था घोषित कर दिया।” (मैनेजर पाण्डेय) इस शाश्वतता की आलोचना करते हुए स्तारोविंस्की ने लिखा कि “नार्थोप फ्राई की आलोचना पद्धति में कल्पना के प्रत्ययों को वस्तुओं की तरह मानकर उनका वर्गीकरण होता है। इस पद्धति के अनुसार सम्पूर्ण साहित्य एक दूसरी सृष्टि की तरह है, जो कृतियों की विशाल व्यवस्था से निर्मित, अपने

आंतरिक नियमों से शासित और विभिन्न कालों तथा विधाओं में विभाजित है।” (डायजिनिस पृ. 79)

मैंने ऊपर इस विवाद का जिक्र इसलिए किया कि सिद्धेश जी के अवचेतन में भी इतिहास और इतिहास विरोधी धारणाओं का घालमेल है। कृतियाँ कालबद्ध होती हैं, उनके रूप सौंदर्यबोधी मूल्य इतिहास काल से अनुशासित होते हैं और उसका अतिक्रमण भी करते हैं।

इसी संदर्भ में प्रत्येक पीढ़ी की संवेदनशीलता में भी परिवर्तन होता है। रूप वस्तु के आन्तरिक आवश्यक नियमों के अनुसार परिवर्तित होते हैं। उनका ऐतिहासिक कलात्मक मूल्यांकन होता है।

यह भी सच है कि अनुभूति, जिसे रचना में रूपायित किया जाता है, व्यक्तिनिष्ठा होती है। परन्तु वस्तुस्थिति पर आधारित होती हैं और युगीन सत्य युग की वस्तुगत परिस्थितियों से निर्मित होता है। वह और कुछ नहीं वस्तु स्थितियों के संघात में रूपायित होता है। इसलिए रचयिता युग की मूल प्रवृत्तियों को पहचानता है। यही पहचान संवेदना का रूपांतरण करती है।

पाठक रचना में केवल वर्तमान को ही नहीं बल्कि उसमें छिपे हुए अतीत के अवशेषों का भी उत्खनन करता है। इस पाठ-प्रक्रिया में वहाँ रचना के भीतर छिपे हुए उपपाठ भी सत्तावान हो जाते हैं।

इस प्रतीति के बौद्धिक अन्वेषण के लिए ‘गूंगू आज़ाद’ संकलन की ‘कटा-छँटा आकाश’ कहानी का पाठ किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ चेतना कैसे संरचित होती है। कहना न होगा कि आजकल भूमंडलीकरण जिस मासकल्चर को निर्मित कर रहा है उसमें पूरी संस्कृति संकटग्रस्त हो रही है। यह कल्चर हमारे मन को ही ध्वंस प्रक्रिया में संलग्न कर रहा है। कहना न होगा कि सभी महत्तम अनुभूतियों को विषाक्त कर देने का अनवरत सिलसिला जारी है। कथा में मुख्य चरित्र (‘रामेश्वरी’) नहीं जानती कि इसका क्या जवाब दे। चुपचाप भीतर ही भीतर बिसूरती रहती है। बहू जो लड़ झगड़ कर घर से गयी तो लौटी नहीं बेटे से साफ कह दिया है कि जब तक वह (रामेश्वरी) रहेगी, मैं घर में पैर नहीं रखूँगी। आखिर इस सत्तर साल की उम्र में रामेश्वरी जाएं तो कहाँ? दूसरा आसरा भी तो

नहीं? पति को गुजरे हुए जमाना हो गया। बेटे को लिखा-पढ़ाकर बड़ा किया, अब जब शांति से बैठने-पसरने का समय आया तब बहू ने धत्ता बता दिया। बेटा ऐसी हालत में क्या करे? माँ को कहाँ भेज दे। बेटा लाचार है। बहू से बेटा बाहर ही बाहर मिल लेता है, कभी-कभी ससुराल जाकर रह लेता है। उस दिन परिवार के दूसरे सदस्यों ने आकर बेटे को लाख समझाया था कि बहू को समझा-बुझाकर लौटा लाए या फिर हमेशा के लिए छुटकारा पा ले। दूसरी शादी कर ले। माँ को कब तक परेशानी में डाले रखेगा, इस उम्र में घर का इतना सारा बोझ उठाना संभव नहीं है। बेटा सुन लेता है, पर अब तक कोई निर्णय नहीं ले पाया। रामेश्वरी के भाग्य में आराम लिखा नहीं है।”

मैंने यहाँ लम्बा उद्धरण इसलिए दिया कि इसी की रोशनी में विचार के वास्तविक संदर्भों और यथार्थ के समूचे प्रपंच पर बहस किया जा सकता है कि किस तरह द्वन्द्व अंतर्सम्बन्धित स्वरूप में विकसित हो रहा है। रचनाशीलता में वस्तु केवल उजागर ही नहीं सर्जित भी होती है। परन्तु पाठक को पता लगाना पड़ता है कि व्यवहार विशेष के पीछे कौन तर्क शृंखला वर्तमान है। जाहिर है विषय-प्रकरण (कन्टेक्ट ऑफ सिचुएशन) में विचार भरे तनावों का संगुफन है। कला-विकास में इसी तरह संजटित प्रक्रिया का ज्ञान होता है। यह संजटिलता विशेष रूप तब धारण करती है जब समाज-विकास और इतिहास में एक नयी विधि आविष्कृत होती है। नयी सामाजिक प्रणाली हमारे दैनन्दिन के जीवन में, विविध उद्दीपनकारी टकरावों के माध्यम से जनमानस के विकासक्रम के महत्त्व तथा संजटिलता को प्रकाश में लाती है। एक चित्त प्रवृत्ति से दूसरी चित्तप्रवृत्ति में सूक्ष्म एवं अप्रतिम संक्रमण को अभिव्यक्त करती है।

टेक्स्ट का उत्पादन विचारधारात्मक विमर्श कहा जाता है। इसमें विभिन्न प्रकार के आंतरिक अन्तर्विरोधों और अव्यवस्था की अभिव्यक्ति होती है। मार्क्सवादी विचारक और आलोचक ने "Politics of being" में लिखा है कि "Network of perspective and relation which provide matrix with in which it becomes identifiable and intelligible." (Ideology of Aesthetics-terry eagleton)

इस रचना में वातावरण की सृष्टि से रामेश्वरी की अवस्थिति और उसका अन्तर्द्वन्द्व, उसकी बहू, बेटा, आगन्तुक की अस्मिताएँ— इतिहास और यथार्थ के बीच संवेदना सहित एवं संवेदना रहित दोनों चेहरे लिए खड़ी हैं। कथा में परिस्थिति जन्य तनाव कृति-काल खंड में एक वस्तुगत परिस्थिति के मध्य संरचना के अन्तर्गत विविधपूर्ण प्रतिक्रियाओं और नवाचारों की शृंखला है। यहाँ निश्चित इतिहास सापेक्ष संरचना के आधार पर पाठक सोचता है तो उसे भारत के औपनिवेशिक समाज तथा आज की बदलती औद्योगिक समाज के संरचनागत इतिहास पर ध्यान देना होगा। परन्तु उस पर विस्तार से विचार करने का अवकाश इस लेख में नहीं है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था ने हमारी सभ्यता की नैतिक बुनावट और भौतिक रचना को तो रूप दिया है। विशेष करके जिस धीमी गति से देश का पूँजीवादी रूपांतरण हो रहा है उसके प्रकरण प्राक् पूँजीवादी सांस्कृतिक प्रभाव (अच्छे और बुरे दोनों) के अवशेष अब भी मौजूद हैं। मध्यवर्ग का उदय हुआ है। संयुक्त परिवार का विघटन भी हो रहा है, एकल परिवार का उदय भी हो रहा है, एकल परिवार में भी तनाव उत्पन्न हो रहे हैं। लाक्षणिक रूप में इन सभी स्तरों के सच इस टेक्स्ट में प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न रूप में दीखते हैं। इसीलिए पात्रों के व्यवहार की मिश्रित प्रतिक्रिया में विचारधारा से संबंध और तनाव व्यक्त होते हैं। परिस्थितिगत तनावों के साक्षी सभी चरित्रों में टूटन और विकास की बुनियादी परिस्थिति की लय, रचना में कल्पना, द्वन्द्व, गति की वास्तविकता प्रतीत होती है। माँ और बेटे दोनों की आत्मविभक्त मानसिकता, उनका मनोविज्ञान भी एक सामाजिक उत्पाद की तरह लगता है। ये जटिल संबंधों की मनोवैज्ञानिकता, विचारधारा को चुनौती भी देती है।

सिद्धेश जी ने अपने नरेशन के दौरान विचारधारा को ही एक नए रूप और आकार में ढाल दिया है। पाठक इसी तरह अर्थों के द्वन्द्व से, रचना से विचारधारा के संबंधों पर सोचने का अवकाश पाता है। अर्थों के ये द्वन्द्व खंडित बाधित अनुभूतियों के टकराव से परिभाषित होते हैं। लगता है जैसे आवयिक समाज ध्वस्त हो रहा है। चूंकि सामाजिक संरचनाएँ ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज होती हैं। इसलिए

नरेशन में ऐतिहासिक वर्तमान को पकड़ा गया है। चाहे संयुक्त परिवार का विघटन हो या एकल परिवार की समस्या हो। आज के मासकल्चर में उपभोक्तावाद ने जो प्रक्रिया निर्मित की है, उसमें हर प्रकार-परम्परागत नैतिक मान्यताएँ, मूल्य प्रश्नांकित हो उठे हैं। यथार्थ के चक्रव्यूह में फँसे आज के नागरिक की ऐन्द्रिक गतिविधि, लोक व्यवहार उसकी आत्मनिष्ठा के विश्लेषण की जरूरत है तभी रचना के तर्क को भेद कर अपरिभाषित अनुभव तक पहुँचा जा सकता है। कुल मिलाकर आज पूँजी की संहिता का एकाधिपत्य है।

पदार्थीकरण की बुनियादी संवृत्ति के बारे में मार्क्स ने लिखा है “इसीलिए माल एक रहस्यमयवस्तु होता है, मात्र इसलिए कि इसमें मनुष्यों के श्रम का सामाजिक चरित्र उनके सामने उस श्रम की पैदावर पर चिपके एक वस्तुगत चरित्र के रूप में आता है..... अपने श्रम के महायोग से उत्पादकों का संबंध उनके सामने एक सामाजिक संबंध के रूप में प्रस्तुत होता है जो उनके अपने बीच नहीं बल्कि उनके श्रम की पैदावारों के बीच मौजूद हो। यही कारण है कि श्रम की पैदावरें माल बन जाती हैं। ऐसी सामाजिक वस्तुएँ जिनके गुण इन्द्रियों के लिए एक ही साथ गोचर और अगोचर, दोनों ही.... यह मनुष्यों के बीच का एक सुनिश्चित संबंध होता है जो उनकी निगाहों में वस्तुओं के बीच एक संबंध का फंतासी वाला रूप ग्रहण कर लेता है।” परन्तु भूमंडलीकरण मुद्रा और माल के प्रवाह के अतिरिक्त और बहुत कुछ है। वस्तुपूजा जड़वाद ने बाजार के एवं समाज की शक्तियों के शक्ति संतुलन को डगमगा दिया है। आखिरकार अनुभूतियों का भौतिक स्रोत और आधार तो मानवीय संबंध ही होते हैं। अतः जब सृजनशीलता के क्षेत्र में नवीनता की खोज की जायेगी तो हमें समाज में संचालित व्यापक आर्थिक, प्रौद्योगिकीय और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के गहन डाइनेमिक्स पर ध्यान देना होगा। यही कि व्यक्ति की अस्मिता वस्तु में समाहित होती जा रही है। ऐसी स्थिति का रूपायन करते हुए “कटा छँटा आकाश” में जिस दिशा में चरित्रों की निर्मित हुई है वहाँ व्यवहारों में सहजता खत्म हो रही है। इसे हम परम्परा और आधुनिकता के तनाव के रूप में भी बोधगम्य कर सकते हैं। जब हम

अपनी इच्छाओं में खेलने लगते हैं। तब व्यक्ति मालों की कैटेगरी में बदल जाता है। हम स्वयं को अन्य की दृष्टि से देखने लगते हैं। तब हमारे पास आकर्षण के अलावा क्या बचा रह जायेगा ? प्रस्तुत कथा में इसी आधार पर सामाजिक सांस्कृतिक अर्थों की सृष्टि की गयी है।

रचना में माँ और बहू का अन्तर्विरोध और कुछ नहीं सोच के बुनावट का एक हिस्सा है। आज कल पूरे समाज को बदलने का जो उपक्रम चल रहा है रचना की सीमा में उन अन्तर्विरोधों, संघर्षों के भीतर चलते हुए, पकते हुए, रचे जाते हुए मूल्यों की पहचान हो जाती है। जाहिर है मूल्य सामाजिक तनावों, संघर्षों में जीवन के अनेक स्तरों पर एक विराट, विशाल परिवर्तन के लिए विद्रोह के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए सामाजिक तनावों के भीतर से निरन्तर बनते-बिगड़ते इतिहास के भीतर से ही मूल्य पैदा होते हैं। अतएव कहानी में उभरते हुए, तनावग्रस्त मूल्य सामाजिक शक्तियों के माध्यम से उपजे हुए संकेतिक होते हैं। लेकिन यह भी सच है कि प्रत्येक लेखक अपनी निजी संवेदनशीलता के आधार पर ही अपनी मूल्य-प्रक्रिया से जुड़ा है।

स्त्री होने का क्या अर्थ है या बुढ़ापे की क्या यंत्रणा है ? स्त्री का स्वत्व तथा अस्तित्व कहाँ स्थित है ? मूल प्रश्न और उसके उत्तर के संदर्भ में “...बाहर से तेज बारिश की आवाज आ रही थी। वह (प्रियंका) रामेश्वरी के निकट आ गयी, बोली माँ तुम पूरे दिन अकेले कैसे रह लेती हो।”

‘भाग्य में यही है बेटा! हम तुम या कोई क्या कर सकता है। चालीस साल की उम्र में विधवा हुई, तब से अकेली ही तो हूँ। बीस साल तो सुमन के लायक होने तक कट गये। सोचा, बहू आयेगी तो घर फिर से भर जायेगा। वह भी नहीं हुआ। अब तो मृत्यु की प्रतीक्षा है, बस।’

‘हाँ’ ऐसा क्यों सोचती हैं ? सुमन तो कुछ नहीं कहता। उसने तो मर्यादा दी है।

‘हाँ, वह कुछ नहीं कहता। मगर उसकी पीड़ा भी तो समझती हूँ। वह मेरे कारण ही तो अकेला हो गया है। इस उम्र में एक साथी की जरूरत होती है, उसने भी तो मरहूम हो गया है। मैं जी कर क्या करूँगी ? मैं तो बोझ की तरह

हूँ... रामेश्वरी अपनी आँखें आँचल से पोंछने लगी।” उपर्युक्त प्रसंग समाज के प्रत्येक समुदाय के लोकतांत्रिक अधिकारों और जीवन की बुनियादी सुविधाओं से संबंधित है। यही नहीं इसमें यह भी लक्षित होता है कि प्रभुत्ववाद अपने इतिहास-क्रम में अनेकानेक रूपों में शासन करता है। शायद इसीलिए ब्रेख्त ने लिखा है कि मनुष्य की सुकुमार भावनाओं का स्रोत सूख रहा है। विशुद्ध प्रेम, निष्पाप आवेग, निःस्वार्थ आत्मोत्सर्ग को महत्व देना कला को महत्वहीन बनाना है। रचना एक न्यायालय होती है। लेखक रचना द्वारा पाठकों की बुद्धि को उकसाता है। इस तरह यह कौशल द्वन्द्ववाद के प्रयोग का एक दृष्टान्त है।

सजग रचनाकार समाज के कार्य-कारण संबंधी तथ्यों को उधार कर और उन्मुक्त कर चरित्र के साथ पाठक में अलगाव पैदा करता है। इस तरह अनुभूति की संरचना के माध्यम से अनुभव-प्रक्रिया की ओर संकेत किया जाता है। ब्रेख्त ने लिखा था कि कला बची रह जाय इसलिए वर्ग-संघर्ष को हथियार बनाना चाहिए। इस तरह पाठक के सामने दैनन्दिन अनुभव, समसामयिक समाज के द्वन्द्व की गति-प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। कहना न होगा कि इतिहास एक समस्या को हल करते-करते नयी समस्या खड़ा कर देता है। इसीलिए सार्थक रचना में हर समय नवीनता की उपलब्धि होती है।

चूँकि इस रचना में घटना सामाजिक अन्तर्विरोधों के परिपार्श्व में उभरती हैं, इसलिए घटनाएँ जिन्हें उभारती हैं कथा वहीं रूपायित हो उठती है। क्योंकि इस रचाव में भाषा आंतरिकता की सघन अनुभूति का वहन करती है। एक ओर रामेश्वरी की पीड़ा अपने एकांतों को चीरती हुई निष्पन्द और जड़ बनाती हुई तन कर ठहर जाती है। वहीं पाठक रचनाशीलता के अन्तरतम में प्रवेश करके वस्तु स्थिति को सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रसंग और पेंच के जटिल विन्यास में केन्द्रीय बिन्दु को पहचान लेता है। यह कथा जीवन के प्रतिबिम्ब के एक पैटर्न में गुँथी है।

इस तरह लेखक की अस्मिता संवेदना के मंझधार में व्यक्त वास्तविकता के साथ अपने सृजनात्मक संघर्ष में अप्रत्याशित तनावों, अमानवीयकरण की शक्तियों से जबर्दस्त मुठभेड़ करती है। अनुभव के इस ऐन्द्रिक ग्रहण को भाषा

में चरितार्थ करते हुए लेखक पाठकों की संकल्पधर्मी चेतना को उकसाता है कि वह इस वस्तु जड़पूजा वाले संसार में ऐसा कुछ खोजे जो उसे गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करे। वह है रागधर्मी संवेदना। सन साठ के बाद में लेखकों ने एक झटके में इसे हाशिए पर फेंक दिया था। उसमें यह रूप यांत्रिक हो उठा था। सिद्धेश जी ने अन्तर्विरोधों के पद में इस रचना में इतिहास को समझने की दृष्टि दी है कि संदर्भों को भावपरकता में समझा जाय। इन बिम्बित स्थितियों में सुमन की माँ के प्रति ममत्व पूर्ण व्यवहार में, क्या बौद्धिक, इन्द्रियबोधपरक तत्त्व घुले मिले नहीं हैं। यहाँ कला का ज्ञानात्मक मूल्य मुक्तिबोध के शब्दों में ज्ञानात्मक संवेदन प्रकाशित नहीं होता है ?

कहना न होगा कि रचनाशीलता में परस्पर निर्भरता और जटिल संबंधों की व्यवस्था की जाती है। वह व्यवस्था दोहरी होती है। पहली समकालिकता की होती है। 'कटे छूटे आकाश' में यह समय विशेष की सामाजिक संरचना

रूपायित करती है। दूसरी ओर इसमें काल क्रमिकता भी है जिसमें घटना, प्रसंग, चरित्र, वातावरण ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंग बनकर, अतीत से प्रभावित भी है और वे संस्कृति के भावी प्रकृति की ओर भी इंगित करते हैं। अतएव पाठक को बोध हो जाता है कि कृति क्या कहती है ? और किसे कहती है ?

सिद्धेश जी ने इस रचना में सभ्यता के संकट का जो चेहरा उभारा है। उसमें प्रत्यक्ष को संवेदना में बदल गया है। जिसमें पाठकों के सामने एक और बाहरी दुनिया रूपायित हुई हैं। दूसरी ओर लेखक-पाठक की भीतरी दुनिया भी है। लगता है भाषा की परत-दर-परत को संवेदना से ड्रिल किया गया है। रामेश्वरी के कथन और सोच में भाषा उद्वेलन पैदा करती है। और अन्य पात्रों से प्रक्रियात्मक संबंध बनाती है। इस प्रकार कथा-भाषा प्रक्रिया में बदल जाती है। पाठक भाषा में अन्तर्निहित ध्वनि को गहराई से महसूस करता है।

संपर्क :

एच/13, एल.आई.जी. इस्टेट
8/1, रुस्तम जी पारसी रोड, काशीपुर,
कोलकाता- 700002, मो. 9038340568

कितने पाकिस्तान : कुछ विचारणीय मुद्दे

डॉ. सेवाराम त्रिपाठी

मुक्तिबोध ने लिखा है कि “कलाकार को शब्द-साधना द्वारा नये-नये अर्थ स्वप्न मिलने लगते हैं, पुरानी फैन्टेसी अब अधिक सम्पन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता, अभिव्यक्ति-प्रयत्न के दौरान शब्दों के अर्थ स्पंदनों द्वारा पैदा होती है। अर्थ स्पंदनों के पीछे सार्वजनिक अनुभवों की परम्परा होती है। इसलिये अर्थ परम्परायें न केवल मूल फैन्टेसी को काट देती हैं, तराशती हैं, रंग उड़ा देती हैं, वरन् उसके साथ ही, वे नये रंग चढ़ा देती हैं, नये भावों और प्रवाह से उसे सम्पन्न करती हैं, उसके अर्थ क्षेत्र का विस्तार कर देती हैं।” (तीसरा क्षण)

इस कथन को उद्धृत करते हुए मुझे लगता है कि ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास में एक ऐसी फैन्टेसी है जिसमें इतिहास, पुराकथायें और अपने वर्तमान के चेहरे की गहरी शिनाख्त की गई है। राजनीति, संस्कृति और तथाकथित धर्म की अवधारणाओं तथा संकीर्णताओं ने हमारे समय के सच को झूठ में तब्दील करने के अनंत खेल खेले हैं। इसे उपन्यास कहें या विचारणीय गद्य कहें या इसे कुछ और नाम दें- इसे बदलते समय की करवटों का बखान कहें या प्रेम की अनकही प्यास का आख्यान कहें। कमलेश्वर जी ने स्मृतियों के दंश के मार्फत सब कुछ कहना चाहा है। इसमें आपको उनकी पत्रकारिता का चेहरा और घटनाओं के ब्योरे भी दिखाई पड़ सकते हैं। इतिहास और वर्तमान का घेराव भी। युद्धों और महायुद्धों की फिलॉसफी पर टिका हुआ महाभारत, आर्याना केडियस और यूनानी मिल्डयाडिस भी। यही नहीं रामकथा का शम्बूक प्रसंग भी। कोई भी बड़ी रचना किसी बड़ी फिलॉसफी के बिना संभव नहीं होती। लेखक ने कारगिल प्रसंग, परमाणु परीक्षण, पोखरण प्रसंग, चंगाई में हुए परमाणु विस्फोट- इन सबको विधिवत चित्रित किया है। छोटी-छोटी कथाओं, उपकथाओं, छोटी और बड़ी घटनाओं को तरजीह देते हुए इसकी कथा को बहुत होशियारी से बुना गया है। कमलेश्वर जी बड़े रचनाकार हैं और रचना की दुनिया में उनके बड़े तीखे खुरदुरे और तल्ख अनुभव रहे हैं। वे शब्द की सत्ता को जानते पहचानते हैं और रचनाकारों की वृत्तियों को जांचते परखते रहे हैं। ये तमाम सवाल भी ‘कितने पाकिस्तान’ में एक तरह

से पिरोये हुए हैं।

उन्होंने इस उपन्यास के पूर्व एक शेर उद्धृत किया है। जो कितने पाकिस्तान की वास्तविकता को बहुत शिद्दत से रेखांकित करता है—

“इन बंद कमरों में मेरी साँस घुटी जाती है

खिड़कियाँ खोलता हूँ तो जहरीली हवा आती है।”

यह उपन्यास सांप्रदायिकता, धर्मान्धता और रूढ़वादिता के खिलाफ एक जिरहनामा भी है जिसमें बहस के जरिए इतिहास और वर्तमान के लम्बे घमासान को फैंटेसी और यथार्थ के माध्यम से जोड़ने का सार्थक प्रयत्न भी है। ऐसी तकनीक का इस्तेमाल लेखक ने किया है कि समूचा घटना-चक्र, समूचा इतिहास, पुराकथायें और राजनैतिक संस्कृतियों के ऊहापोह, धार्मिक विडम्बनायें, सामाजिक व्यवस्थायें जो उनके सामने आते हैं, मुजरिम के रूप में और अदीबे आलिया इसके जज के रूप में। लेखक निर्णायक है। जो भी फैसले हैं जो भी जिरह हैं— वह सब लेखक की आत्मा की आवाज है। उसके हृदय का बवन्डर है। वह जमाने की भीषण त्रासदी की पड़ताल के रूप में पूरे उपन्यास में भिन्न-भिन्न रूपों में बिखरा हुआ है। लेखक के शब्दों में— “यह उपन्यास मन के भीतर लगातार चलने वाली एक जिरह का नतीजा है।” ऐसी जिरह जिसका कोई ओर-छोर नहीं। लगातार, अनवरत और रूहानी। एक अंतहीन—सी बहस का सिलसिला। जिसमें चिंताएँ हैं। भविष्य की बेहतरी के लिये कुछ प्रश्नांकन है और आगे के लिए कुछ योजनाएँ भी।

हमारा यह समय वैसे भी अब नायकों और महानायकों का नहीं है। एक विशेष अर्थ में यह खलनायकों का समय है क्योंकि नायक कब खलनायक के रूप में रूपांतरित हो जाय या नया चोला धारण कर लें, कुछ भी निश्चित नहीं है। यह हमारे समय का दिलचस्प मंजर है। जिसका करिश्मा और हड़कम्प सभी ओर फैला है। कथा और जीवन में नायकों की विदाई का यह समय है। इस संदर्भ में मुझे अल्वेयर कामू का ‘द कैसल’ उपन्यास और मुक्तिबोध का ‘विपात्र’ लघु कथात्मक उपन्यास याद आ रहा है। कमलेश्वर जी ने समय को ही नायक, महानायक और खलनायक के रूप में पेश किया है। लेकिन मेरे मन में

एक प्रश्न यह उठता है कि यदि लेखक या संस्कृतिकर्मी की हर चीज का निर्णायक या नियामक बन जायेगा और फैसले करेगा तो कुछ ऐसी समस्याएँ पैदा हो जायेंगी, जिनका कोई ओर-छोर नहीं होगा। ‘कितने पाकिस्तान’ में लेखक की वर्ग दृष्टि, लेखक की प्रतिबद्धता और लेखक की बेचैनी की कई पतें हैं। जिसका परीक्षण करने में कई गलत युक्तियाँ भी निकल सकती हैं। उन्हीं के शब्दों में— “सच को यदि पहले सोच कर मान्य बना लिया जाय तो यह सत्यभास तो दे सकता है पर आंतरिक सहमति तक नहीं पहुँचता। शायद तब रचना अपने संभावित सत्य को खुद तलाशती है। और मेरी निगाह में यह तलाश अभी जारी है और फिलहाल इसके अंत की अभी संभावनाएँ भी बेहद कम हैं।” लेखक का प्रश्न करना बेचैनियों को सही संदर्भ में प्रस्तुत करना अच्छी बात है लेकिन उत्तरों को रेडीमेड तरीके से रखना— कदाचित अच्छा नहीं माना जायेगा।

यह उपन्यास अपने रचाव या बनक में अपने भीतर सांप्रदायिक मानसिकता, धार्मिक हठवादिता और धर्मान्धता और उसके तमाम छलों को अनावृत्त करता चलता है। पुराने प्रसंगों के माध्यम से इस बहस को रोचक आत्मीय और छुन भरे यथार्थ के माध्यम से साधा गया है। इस पूरे प्रसंग में लेखक की साफ सुथरी दृष्टि भी हम देख सकते हैं। किस्सागोई के अंदाज में घटनाओं की संजीदगी और जद्दोजहद के साथ इसे रूपायित किया गया है। इतिहास, धर्म, जाति और राष्ट्र के नाम पर रक्तरंजित संघर्ष और उससे उपजी त्रासदियों की भयावह दास्तानें और उनकी निष्पत्तियाँ भी मिल जायेंगी। जाहिर है कि लेखक ने अपने आपको ‘ग्लोरीफाई’ किया है और निर्णायक भी माना है। इस उपन्यास की अन्तर्वर्ती धारा बौद्धिक ज्यादा है संवेदनात्मक कम। इसलिये इसमें सर्जनात्मक ऊर्जा की कमी दिखती है। इसकी आंतरिक अन्विति को वह बार-बार तोड़ देती है। समकालीन यथार्थ के प्रतिबिंबन का नजरिया एक अंतहीन बहस है। और इस बहस में ऊबने की गुंजाइश लगातार बनी हुई है। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने ‘कितने पाकिस्तान’ को रूपक की संज्ञा दी है। यह रूपक अपने भीतर बहुत कुछ समेट लेता है। समूची बहस से गुजरकर जज एक निर्णय सुनाता है। यह निर्णय सभी को

स्वीकार्य हो सकता है क्या? ऐसे समय में जब इतिहास की मनमानी व्याख्याएँ और अपने अनुकूल इतिहास को मोड़ने के गुमान और दम्भ मौजूद हों, कमलेश्वर जी ने अद्भुत चरित्रों को इतिहास के भीतर से उठाया है। दाराशिकोह की संवेदनशीलता और दृष्टि का व्यापकत्व भी आततायी और कूढ़मगज औरंगजेब को दुष्कृत्य करने से नहीं रोक सका। अंधा कबीर में लेखक अपनी परम्परा और परिणति को तलाशता है। इसमें अपने समय की अस्मिताओं का संघर्ष खासा उत्तेजक पहलू है। लेखक का यह सिन्सियटी दरअसल एक नया मानक है।

‘कितने पाकिस्तान’ की कथा एक रेडीमेड कथा है। इसकी कथा संरचना को कीमियागिरी से बुना गया है। इसमें यदि घटनाओं का घमासान है तो इसी के बरक्स लेखक के कृत्रिम और रेडीमेड फैसलों का भी घमासान है। लेखक जज की भूमिका को व्यापक और सशक्त बना पाया है या रच पाया है तो अपनी सुचिन्तित संरचना और पैनी सजग दृष्टि के माध्यम से। यह प्रश्न अभी भी मुझे अनुत्तरित लगता है। मेरे मन में एक प्रश्न रह रहकर कौंधता है कि क्या हम इतिहास और वर्तमान के मरणासन्न गवाह भर हैं या हमारी कोई महत्वपूर्ण भी है। यह भूमिका

है तो मात्र निर्णायक के रूप में। क्या लेखक को इस बात की इजाजत दी जा सकती है कि वह तटस्थ या मूक दर्शक बना रहे। हम अपने समय पर सघन और सार्थक हस्तक्षेप न करें। क्या इतिहास और वर्तमान पर निर्णय करते हुए ‘महान’ बनने की आकांक्षा भर पालें। कमलेश्वर जी यह भी कहते हैं कि – “लगभग उसी अनकही बेचैनी और अपनी असमर्थता के बोध से मैं गुजरता रहा। ...आखिर इस उपन्यास को कहीं तो रुकना था। रुक गया। पर मन की जिरह अभी भी जगी है। (यह उपन्यास- पहला संस्करण) लेखक के पास एक गद्गद्भाव या आश्वस्ति का भाव भी है कि – “पचास-पचपन बरस पहले जो अमूर्त-सी शपथ कभी उठाई थी कि रचना में ही मुक्ति है, उस मुक्ति का किंचित एहसास अब हुआ है। जिन्दगी जीने का, दायित्वों को सहने और रचना, यह एक सच है कि जनवरी 2000 से अक्टूबर 2008 तक इस उपन्यास के बारहवें संस्करण प्रकाशित हुये- यह लोकप्रियता का नया तिलिस्म है। जिन्दगी जीने दायित्वों को सहने और रचना की इस बीहड़ यात्रा के दौरान जो कभी सोचा था, सोचता रहा था कि ‘वाम चिरन्तन’ है। उसकी गहरी प्रतीति भी मुझे इसके साथ मिली है।” (तीसरा संस्करण)

संपर्क :

रजनीगंधा-6, शिल्पी उपवन, श्रीयुत नगर, रीवा (म.प्र.)- 486001

मो. 09425185272

तुम किसकी हो बिन्नी : भूषण हत्या के आख्यान में लिपटा स्त्री-दर्द

सुनीता साव

मैत्रेयी पुष्पा अचल विशेष को लेकर लिखने वाली एक सशक्त लेखिका हैं। उनका कथा-संसार समसामयिक परिस्थितियों की उपज है। इनके प्रमुख कहानी संग्रह हैं- 'चिन्हार', 'गोमा हँसती है', 'ललमनियाँ' तथा अन्य कहानियाँ। इनके स्त्री पात्र बहुत ही तेज, सशक्त और आत्मविश्वासी हैं। अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए इनके सभी पात्र समाज द्वारा निर्मित बंधनों को तोड़ फेंकने में तनिक भी हिचकते नहीं हैं। इनके पात्रों का सशक्त जीवन्त व्यक्तित्व उन स्त्रियों के लिए मिसाल हैं, जो कोल्हू के बैल के समान दिन भर काम करती हैं और अपने अधिकारों से वंचित होकर हाशियेकृत हो जाती हैं, लेकिन इसके बावजूद भी इनमें चेतन की वृत्ति है। वे सामाजिक बदलाव के परिणाम हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनमें सच कहने का साहस है और उनकी क्रांति-चेतना किसी विचारधारा के दायरे में कैद न होकर अनुभव की आँच और अनुभूति के ताप से प्रेरित है।

मैत्रेयी पुष्पा के कथा-संसार में स्त्री चाहे निम्न वर्ग की हो या सम्पन्न उच्च वर्ग की, दोनों की अवस्थाएँ समान हैं। इनकी कहानियों की अशिक्षित पात्राएँ तो आधुनिक शिक्षित स्त्रियों से ज्यादा सशक्त और प्रतिरोधी तेवर रखने वाली हैं। 'पगला गयी है भगवति', 'रेहन में चढ़ा बुढ़ापा', 'बिकी हुई अवस्थाएँ', 'कुचले हुए सपने', 'धुँधलाता भविष्य', 'तुम किसकी हो बिन्नी' आदि कहानियाँ दर्द की घटनाओं के ताने-बाने से बुनी कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ इक्कीसवीं सदी की देहरी पर दस्तक देते हुए भारतीय समाज का परिवर्तित रूप प्रस्तुत करती हैं। 'अपना-अपना आकाश' की 'अम्मा', 'चिन्हार' की 'सरजू', 'आक्षेप' की 'रमिया', 'भँवर' की 'बिरमा' या 'तुम किसकी हो बिन्नी' की 'बिन्नी' हो, सबकी अपनी वेदना, अपना दर्द है। जीवन के कराह, कसक और घुटन का स्पन्दन इनकी प्रायः सभी कहानियों में बिम्बित हैं। मैत्रेयी पुष्पा ने जीवन के अनुभूत सत्य को परिवेश के साथ जोड़कर बड़ी सहजता और स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस कारण इनकी रचनाएँ जीवन के कड़वे यथार्थ का जीवंत दस्तावेज हैं।

'तुम किसकी हो बिन्नी' शीर्षक कहानी एक ऐसी लाचार और माँ के स्नेह से वंचित बच्ची की कहानी है, जिसे अपने ही माँ-बाप, दादी और दो बड़ी बहनों के छोटे से परिवार में निराश्रित होकर रहना पड़ता है। उसका मात्र दोष इतना ही है कि माँ आरती द्वारा फीट्स-टैस्ट के परिणामस्वरूप रिपोर्ट में मेल चाइल्ड प्रूफ हो जाने के बावजूद भी वह आरती के गर्भ से फीमेल चाइल्ड बनकर पैदा हुई थी। जबकि परिवार में बेटे के आने की खुशी में पिता ने लड्डुओं का प्रबंध पहले से ही कर लिया था, पीर का गंडा बड़े मनोयोग से माँ आरती ने अपने बाँह में बाँध लिया था, गरमी में बीस किलो आमों का दान किया गया था, संतोषी माँ का व्रत रखा गया था, वैष्णो देवी की जात मानी गयी थी, दादी ने भी मनचाही बात कह दी थी- "मैं तो कह रही हूँ, पेट की बनगत ही दूसरी है अब कै! एड़ी चिकनी और लाल हैं तेरी। मुँह पर रंगत नाँच तेरे। भूसी-सी उड़त रहै चेहरा पै। छोरा ही होयगौ देखि लइयो।" और तो और आरती के अस्पताल जाते समय परिवार की दूसरी बेटा अंजू के यह कहने पर

कि- “मम्मी, बहन लाना। मुझे तो बहन चाहिए। भाई तो मारता है।”- दादी ने चटाक से एक तमाचा उसके गाल पर जड़ दिया था। एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति के लिए आरती ने न जाने कितनी बार गर्भपात करवाया था। गर्भ में फीमेल चाइल्ड के आ जाने पर आरती एक दिन भी व्यर्थ नहीं जाने देती थी, दूसरे दिन ही भ्रूणहत्या करवाकर होने वाली बेटी से मुक्ति पा लेती थी- “पेट में ही मार डाला तेरी बहन को, और क्या हुआ? एक बार नहीं, दूसरी बार, तीसरी बार, तेरी बहनें....।” इतना होने के बावजूद भी बिन्नी का बेटी बनकर जन्म लेना और उस परिवार में आना उसका सबसे बड़ा अपराध था और यही वजह थी कि आरती एक सगी माँ होकर भी उसके साथ सौतेला व्यवहार करती थी। वह अपनी दोनों बेटियों पर ममता लुटाती थी सिवाय बिन्नी के। उस पूरे परिवार में बच्ची बिन्नी की परवरिश अनाथ बच्चे की तरह हो रही थी। शिशु बिन्नी के घर में आने पर उसके लिए गुड़िया और अंजू के पुराने फ्रॉक खोजे गए। ‘बिन्नी’ नाम अस्पताल में ही नर्स ने दे दिया था। बड़ी बुआ ने बिन्नी के लिए आरती को खत में लिखा, “यह चुड़ैल कहाँ से टपक पड़ी।” माँ के रहते हुए भी माँ की गोद उसे नसीब नहीं हुआ, सारा दिन खटोले पर ही पड़ी रहती, मुँह में दूध की बोटल डाली जाती तो उसे निकालने वाला कोई नहीं होता, कभी गले में ज्यादा दूध चला गया, फन्दा लग गया, खाँसी का बेअंत दौरा-सा पड़ा, निपल निगल गई, कभी आँखें उबल आईं तो कभी रोते-रोते खटोले से नीचे आ गिरी। कोई देखने वाला नहीं। वह तो बस किसी तरह पल रही थी। लेखिका का कथन है- “बिन्नी की भैमाता कभी दादी बनी, कभी महरी बनी और कभी महरी की बेटी।” बस ऐसे ही बिन्नी पनपने लगी। गुड़िया और अंजू के कपड़े पहनकर उनके पीछे अँकुड़ाई झिझकी नाजुक नन्हीं कोंपल-सी बढ़ने लगी। लेकिन वक्त ने उस नन्हीं सी कली को उसके बचपन से परिचित होने का मौका ही नहीं दिया कि वह वक्त से पहले ही बड़ी बन गई, उसे पता नहीं चला। परिवार के लांछन, बहनों के तानें और माँ की मार खाते-खाते- “बिन्नी के मुँख से अब चीख नहीं निकलती, केवल आँखों से रोना सीख लिया है उसने। गालों पर निःशब्द अविरल धाराएँ बहाने लगी

हैं।” वह ‘कूढ़मगज’ की संज्ञा पाकर भी घर में सबकी जरूरत की चीजों का हमेशा ध्यान रखती है; पापा, मम्मी, दोनों बड़ी बहनों के हर काम को जी-जान से करती है, क्योंकि उस आठ-नौ साल की बच्ची को इस बात का एहसास हो चुका था है कि उसके अपने ही घर परिवार में उसकी क्या औकात है। लेखिका कहती है- “बिन्नी को देखकर कौन कहता है कि वह आठ-नौ-साल की बच्ची है, वह तो प्रौढ़ चतुरा-सी वाचाल हो गई थी।” लेकिन बिन्नी की दर्द-भरी कहानी का अंत यहीं पर नहीं होता। उसके नन्हें से हाथों से एक कप टूट जाने पर बड़ी निमर्मता से उसकी माँ के हाथों पिटाई होती है। तब दादी उसे अपने साथ गाँव ले जाने का फैसला लेती है। अंत में दादी के साथ बिन्नी को गाँव भेज दिया जाता है। वहाँ वह अपनों के प्यार से वंचित दादी के साथ गाँव में पलने लगती है, घर का सारा काम करती है, दादी की सेवा करती है और पढ़ाई में भी अक्वल आती है। लेकिन यहाँ आकर भी बिन्नी अपने सगे माँ-बाप की स्वार्थपरता से एक बार फिर चोट खाती है। बिन्नी के पापा बिन्नी को लेने के लिए गाँव आ जाते हैं, इसलिए नहीं कि बिन्नी से उनका अटूट स्नेह है, बल्कि इसलिए कि बिन्नी की माँ आरती एक बार फिर से गर्भवती है और उनकी देखभाल करने के लिए उन्हें बिन्नी की जरूरत है। पापा के शब्दों में- “अम्मा आरती से काम नहीं बनता, छठा महीना चल रहा है। बहुत कमजोर हो गई है। ... देखा था अम्मा, माँ के इशारे पर कैसी नाचती-फिरती थी बिन्नी! सारा काम उठा लेती थी।” बिन्नी समझ जाती है कि उस पर स्नेह लुटाने वाले पापा उसके ‘पापा’ बनकर उसे ले जाने के लिए नहीं आये हैं, बल्कि वे तो मम्मी के ‘पति’ बनकर उसका इस्तेमाल करने के लिए उसे वापस ले जाने हेतु गाँव आये हैं।

सवाल उठता है कि मैत्रेयी पुष्पा के बिन्नी की यह कहानी क्या सचमुच एक कहानी है, जिसे पढ़कर या सुनकर पाठकों और श्रोताओं की सोच बस केवल एक ‘आह’ में तब्दील हो जाती है? शायद नहीं, यह आज के प्रत्येक उस घर की कहानी है, जहाँ बेटे की चाह में फीमेल चाइल्ड को फीट्स टेस्ट करवाकर गर्भ में भी मार दिया

जाता है। हमारे यह पुरुष वर्चस्ववादी समाज ने हमारी सोच को नपुंसक बना दिया है, जहाँ हम यह मानने के लिए विवश हो जाते हैं कि परिवार के 'कुल दीपक' का अधिकारी, वंश का उत्तराधिकारी केवल पुत्र ही हो सकता है, पुत्री नहीं। बेटे-बेटी का यह फर्क क्यों? हमारी यह दकियानूसी सोच आज तक समय के उत्तरोत्तर बहाव में प्रगतिशील नहीं बन पाई है। 'तुम किसकी हो बिन्नी' कहानी के माध्यम से लेखिका ने एक बिन्नी को तो घर की चाहरदीवारी की कैद से छुटकारा दिला दिया, लेकिन आज भी अनगिनत घरों में ऐसी कई बिन्नियाँ कैद हैं, जो रोती हैं, मगर उनकी सिसकियाँ बाहर तक नहीं आ पाती, दहलीज के भीतर ही दफन हो जाती हैं, जो आज भी उत्तर आधुनिक समाज के प्रगतिशील बनने की प्रतीक्षा में हैं। 'तुम किसकी हो बिन्नी?' लेखिका का यह प्रश्न आज के हमारे उस पुरुष वर्चस्ववादी समाज से है, जो वंश-वृद्धि की परम्परा को धीरे-धीरे नपुंसक बना रहा है, आने वाली नस्ल को मिटा रहा है। अगर ऐसे ही फीमेल चाइल्ड को गर्भ में ही मार डालने की प्रक्रिया चलती रही तो वह दिन दूर नहीं, जब हमारा परिवार, हमारा समाज और हमारा राष्ट्र नारी जाति से एकदम शून्य हो जायेगा और 'कुल दीपक' की रोशनी से अपने घर-परिवार को रोशन करने वाला हमारा पुरुष वर्चस्ववादी समाज अंधकार के गर्त में चला जाएगा।

'तुम किसकी हो बिन्नी' शीर्षक कहानी में हमें मातृ-स्नेह से वंचित बिन्नी के प्रति ही सहानुभूति नहीं होती, बल्कि बिन्नी की माँ आरती के प्रति भी हमारी सहानुभूति और बढ़ जाती है कि एक नारी होकर भी अपने गर्भ में पलने वाले वह तीन-तीन नारी-शिशुओं की हत्या कर डालती है, आखिर ऐसा क्यों करती है वह? अपनी ही संतानों के प्रति इतनी निर्दयता क्यों? एक माँ होकर भी ममत्व की ऐसी हत्या क्यों? शायद आरती को ऐसा बनाने में भी हमारे इस पुरुष वर्चस्ववादी समाज की ही भूमिका है। नाते-रिश्तेदारों और आपसी मेल-जोलदारों में आरती पर बार-बार तानों के प्रहार किये जाते हैं कि वह बेटे को जन्म नहीं दे सकी। उसे अपनी गृहस्थी बिना पतवार की नाव के समान महसूस होने लगी थी। बिना पुत्र की जननी बने, वह माँ के गौरवान्वित पद को स्वीकार नहीं कर पा

रही थी। जीवन का महत्वपूर्ण कोना एक वृहद् आकार लिए उसके लिए रिक्त लगता था। सामाजिक परिवेश उसके लिए कँटीला हो चला था। तीज-त्यौहारों के समय तो उसके कलेजे में पुत्रहीनता की हूक-सी उठ जाती थी, जो बेचारगी में पलट जाती। लेखिका आरती की इस दयनीयता पर टिप्पणी करते हुए कहती हैं- "राखी हाथ में लिए बेटियाँ कैसी बेअर्थ लगतीं, ...स्वत्वहीन....लाचार! संसार की किसी अमूल्य निधि से वंचित! दुर्लभ रिश्ते से कटी हुई।" यहाँ तक कि आरती के पति की जुटाई सुख-सम्पदा को लोग इस एक अभाव की तीक्ष्ण छूरी से पल भर में काटकर फेंक देते, "अरे कितना ही पैसा-वैभव बना रहे, पर किसके लिए.... एक जीव होता तो सब सुकारथ था- इन लड़कियों का ढक्कन लेकिन..." आखिर इन तानों को कब तक सहन करती आरती बेचारी! इस अधूरेपन के अहसास तले दबी वह हर गली, हर मोड़ और उत्सव से आँखें चुराकर चलने लगी थी। अंत में आरती इस पुरुष वर्चस्ववादी समाज के दकियानूसी विचारों की दीवारों से टकरा-टकराकर हार मान जाती है और "अपनी दो बेटियों और पाप के साथ फलती-फुलती बगिया को अपने ही दाएँ-बाएँ से आते कंकड़-पत्थरों से रूँदती देखकर निरस्त हो गई और फिर इसलिए.... ऐसे ही.... कर्ण रन्ध्रों को कौंचते वाक्यों के चाबुक की मार से आहत मुड़ पड़ी उसी राह.... फिर गर्भवती।" यही वह बिंदु है, जहाँ अपनी समूची संवेदनाओं की गहराई में नारी का वह रूप झलकता है, परम्परागत होते हुए भी परम्परागत नहीं रहा, प्रेम से सिंचित होने पर प्रेमपूर्ण नहीं रहा, जो त्याग और बलिदान की लहर से ओत-प्रोत होने पर भी आत्मसमर्पण के लिए संयत नहीं रहा, क्योंकि अस्तित्व की विडम्बना आज की नारी को नारी नहीं रहने देती। यह एक महान सत्य है, जिसको यह कहानी उभारकर सामने रखती है। यही वह बिंदु है जहाँ नारी के बदलते रूपों का आरंभ भी होता है और अंत भी। यहाँ आरती पाठकों के प्रति पाठकों के मन में क्रोध या नफरत के भाव नहीं पनपते, बल्कि उसके प्रति करुणा, दया और सहानुभूति के भाव पैदा होते हैं कि ऐसे समाज से आरती जैसी अकेली, निःसहाय नारी भला कब तक टकराती? वह तो अपने पति और दो

बेटियों की छोटी-सी गृहस्थी से काफी संतुष्ट थी। लेकिन हमारे समाज के तानों ने ही उसे पुत्र की कमी का अहसास दिलाकर फिर से 'गर्भवती' बननेवाले मार्ग की ओर प्रशस्त किया। आरती की सहन-शक्ति की सीमा यहीं समाप्त हो जाती है और वह पुरुष प्रधान समाज की ताल से ताल मिलाकर चलने को बाध्य हो जाती है। आरती की यह स्थिति हमारे बदलते हुए समय की माँग नहीं, बल्कि हमारे पुरुष प्रधान समाज की रूढ़ मान्यताओं के साथ किया गया एक समझौता है। यह सत्य है कि न तो आरती का पति उसे गर्भवती होने के लिए बाध्य करता है और न ही पुरानी पीढ़ी 'दादी' उसे गर्भवती होने के लिए बाध्य करती है, बल्कि उसे भ्रूण हत्या और पुत्र-रत्न की प्राप्ति के लिए पुनः गर्भ धारण करने पर विवश करता है- हमारा पुरुष वर्चस्ववादी समाज। मैत्रेयी पुष्पा 'एक स्त्री का घोषणापत्र' में स्त्री की इसी विवशता की ओर संकेत करते हुए लिखती हैं- "घड़ी का पेंडुलम हिलने से केवल मिनट, घण्टा, दिन और रात व्यतीत होते हैं, जानलेवा स्थितियाँ बीतती हैं, न बदलती हैं। उनको बदलने वाला व्यक्ति ही होता है, जो पूरी तरह से अपने समय-कुसमय का अधिष्ठाता है। यहाँ तो स्थिति यह है कि पुरुष-संवेदनाओं से आते खुले निमंत्रण पर यदि स्त्री अपने संवेगों का सामंजस्य बिठाती है तो यह नाजुक क्षण पहले के लिए पौरुष की पताका और दूसरे के लिए समाजघातिनी कुचेष्टा के रूप में आँका जायेगा। फलस्वरूप एक प्रतिरोधी प्रक्रिया जन्म लेती है- जब बाहरी संसार कहता है कि औरत जो सोचती है, यदि उसे उजागर भी करती है तो यह सामाजिक अपराध के खाते में दर्ज किया जाएगा तो भीतरी तौर पर कोई कहता है- अपनी इच्छाओं को कुचलकर जीने का विधान हमें स्वीकार नहीं। हमारा मन जो कहता है, पाँव जहाँ ले चलते हैं, इन्द्रियाँ जिस सुख की आकांक्षा करती हैं, मनुष्य होने के नाते वे हमारे कुविचार, कुचेष्टाएँ नहीं, जन्मसिद्ध अधिकार हैं। जबकि कायदे से तो हमें अपने शील और पवित्रता की रक्षा में नैसर्गिक इच्छाओं का दमन और अपने अन्तर्मन को ध्वस्त करते रहना चाहिए। इसी विनाश के धरातल पर हमें जीने की मोहलत दी जाती है, क्योंकि परिवेश से सुलह ही

हमारी सुरक्षा है और चेतना की मृत्यु ही हमारा जीवन।"

'तुम किसकी हो बिन्नी' शीर्षक कहानी में मैत्रेयी पुष्पा जी ने एक और नारी पात्र को अभिव्यक्ति प्रदान की है, जो न तो बिन्नी की तरह लाचार है और न आरती की तरह विवश, और वह है बुजुर्ग दादी, जो हमारी पुरानी पीढ़ी तो अवश्य है लेकिन वह वर्तमान और भविष्य के मध्य एक ढाल बनकर खड़ी है। दादी जो प्राचीन मान्यताओं के सहारे आरती बनाम वर्तमान की रूढ़ समझौतावादी विचारों से टकराते हुए बिन्नी बनाम भविष्य को एक नया आकार देती है। पुरानी ख्यालातों वाली दादी प्रमाणित कर देती है कि जब हमारा वर्तमान रूढ़ मान्यताओं से पराजित होगा, तब अतीत की प्रेरणा ही भविष्य का मार्ग प्रशस्त करेगी। इसीलिए जब बिन्नी के पापा गर्भवती आरती की सेवा सुश्रुषा के लिए बिन्नी को लेने हेतु गाँव (दादी के पास) आते हैं तो दादी स्पष्ट शब्दों में कहती है- "बेटा गोपाल, बिन्नी तेरी बेटा है, तेरी हक है पूरी। पर मैंने यहाँ आके जे स्कूल में दाखिल कर दई। बड़ी होशियार है। अब्बल आई है छिमाई में। उसकी साल बरबाद है जाएगी बेटा! अब इसे मेरी रहन दे...। सो जा तू। सबेरो जानो है तोय।" अतः स्पष्ट है कि 'दादी' के रूप में अतीत ने अपने आँचल की शीतल छाया तले बिन्नी जैसी आने वाली नई पीढ़ी अर्थात् भविष्य को आश्रय दे दिया है, अब उसे न तो आरती जैसी वर्तमान की गर्म हवाओं की प्रचण्ड लू का भय है और न ही विषम परिस्थितियों के मूसलाधार वर्षा की चिंता। हमारा भविष्य अब सुरक्षित है।

इस प्रकार 'तुम किसकी हो बिन्नी' शीर्षक कहानी में मैत्रेयी पुष्पा ने इस बात का संकेत दे दिया है कि बिन्नी वास्तव में उसी की है, जो उसे सुरक्षा प्रदान कर सके, जो उसके भविष्य को सँवार सके और जो उसे अपना बना सके। यह कहानी एक प्रश्न बनकर अपने पृष्ठों को खोलती है, लेकिन एक समाधान बनकर पाठक वर्ग के मानस-पटल पर हमेशा के लिए एक छाप छोड़ जाती है। अतः यह कहानी अतीत, वर्तमान और भविष्य के त्रिकोणात्मक बिंदुओं से गुजरती हुई अंततः भविष्य को सुरक्षित रखने में ही अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।

संजीव का कथा साहित्य : एक अनुशीलन

रेखा कुमारी त्रिपाठी

संजीव समकालीन हिंदी कथा साहित्य के अन्यतम विशिष्ट रचनाकार हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नयी भावभूमि को लेकर उभरे कथाकारों में उन्होंने अपनी पृथक् पहचान बनायी है। वे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के लिए एक बेचैन, संवेदनशील रचनाकार के रूप में जाने जाते हैं। उनकी परिवर्तनकामी बेचैनी और संवेदनशीलता का प्रमाण उनका कथा-साहित्य है।

संजीव का कथा-साहित्य वैविध्यपूर्ण है। उनके कथा-साहित्य की विषयगत विविधता को देखकर सुप्रसिद्ध कथाकार राजेंद्र यादव ने कहा था- “हिंदी कथा-साहित्य में प्रेमचंद और यशपाल के बाद संजीव ही तीसरे लेखक हैं जिनका लेखन-संसार विविधताओं से परिपूर्ण है, इतनी विविधता रेणु में भी नहीं है।” इस कथन से स्पष्ट है कि संजीव का कथा-साहित्य वैविध्यपूर्ण है। इस तरह संजीव प्रेमचंद और यशपाल की परंपरा के यशस्वी कथाकार हैं।

संजीव जनधर्मी चेतना के प्रतिबद्ध और पक्षधर लेखक हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से हाशिये पर जीने वाले, उपेक्षित, पिछड़े तथा शोषित लोगों की व्यथा को व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने कथा-साहित्य के द्वारा अछूते, उपेक्षित तथा वर्जित क्षेत्र के निवासियों की मूक व्यथा को वाणी प्रदान कर अपनी जन-धर्मिता का परिचय दिया है। वे अनछुए क्षेत्रों तथा तथ्यों की जानकारी के लिए एक श्रम-साध्य शोधार्थी की तरह यात्राएँ करते हैं, संबद्ध लोगों से मिलकर यथार्थ का पता लगाते हैं। वे ‘आँखिन देखी’ पर विश्वास करते हैं और इसीलिए वे अलग-अलग स्थानों पर जाते हैं। वहाँ हर स्थिति, परिस्थिति को वे देखते-परखते हैं और अपने कथा-साहित्य के लिए सामग्री को इकट्ठा करते हैं। इस संदर्भ में कैलास वनवासी लिखते हैं- “संजीव में अपने निरंतर लेखन से उन क्षेत्रों, इलाकों को छुआ है, जो हिंदी साहित्य में अब तक सर्वथा अछूते थे। वह असीमित रेंज का आजीवन लेखक हैं। वे साहित्य के ऐसे ही ग्रास रुट लेवेल के होलटाइमर हैं- किसी भी वैचारिक क्षुद्रता और संकीर्णता से परे।” इस कथन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि संजीव ने अपने कथा-साहित्य उपन्यास और कहानियों में सर्वथा अनछुए विषयों को ही स्थान दिया है। साथ ही वे उपेक्षित, दलित तथा पीड़ित मानव के हित में निरन्तर लिखते रहे हैं।

संजीव ने अपने साहित्य में जहाँ एक ओर शोषित-पीड़ित, असहाय और बेबस लोगों के प्रति अपनी संवेदनशीलता दिखायी है वहीं दूसरी ओर उनके शोषकों तथा उन पर अत्याचार करने वाले उच्च वर्ग, सामंतों, पूँजीपतियों, राजनीतिक नेताओं तथा पुलिस अफसरों के खिलाफ

आवाज उठाने अथवा विरोध करने की प्रेरणा भी दी है। इस तरह संजीव का साहित्य-सृजन उनके लिए 'चौबीसों' घंटे की प्रक्रिया है- प्रश्न भी है, समाधान भी, यातना भी है और यातना से उबरने का माध्यम भी है।

संजीव समकालीन जीवन के यथार्थ को गहराई से रेखांकित करते हैं। उन्होंने 'अपराध', 'दुनिया की सबसे हसीन औरत', 'आरोहण', 'ट्रैफिक जाम', 'हिमरेखा', 'ऑपरेशन जोनाकी', 'सागर-सीमांत', 'पूत-पूत! पूत पूत!!', 'टीस', 'ब्लैक होल' जैसी दर्जनों कहानियाँ लिखकर हिंदी कहानी में अपनी अलग पहचान बनायी है। इसी तरह 'धार', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'सूत्रधार' और 'रह गई दिशाएँ इसी पार' जैसे चर्चित उपन्यासों की रचना कर अपना पृथक् वैशिष्ट्य स्थापित किया है। उन्होंने लगभग एक दर्जन उपन्यासों की रचना की है जिनमें अछूते संदर्भों की कलात्मक प्रस्तुति है। उपन्यास विधा के माध्यम से उन्होंने अछूते क्षेत्रों की चुनौती स्वीकार कर नयी पहल की है। समकालीन अन्य कथाकारों में इस प्रकार के प्रयास का सर्वथा अभाव है।

संजीव के उपन्यास मूलतः ग्रामीण-आंचलिक, मेहनतकश, उपेक्षित तथा शोषित वर्ग की कहानी प्रस्तुत करते हैं। उनके उपन्यास एक तरह से प्रेमचंद और रेणु की विरासत को वर्तमान संदर्भों में निष्ठा से आगे बढ़ाते हैं। उनके उपन्यास परम्परा का पिष्टपेषण नहीं करते, बल्कि युगीन परिप्रेक्ष्य में उसका मूल्यांकन करते हैं। उनके अंदर का लोकवादी कलाकार त्रासद जीवन के मूल में स्थित कुटिल साजिशों की पोल खोलकर बुनियादी तथ्यों का उद्घाटन करता है। इस प्रवृत्ति की परख 'किसनगढ़ के अहेरी', 'सर्कस', 'सावधान! नीचे आग है', 'धार', पाँव तले की दूब', 'जंगल जहाँ शुरू होता है', 'सूत्रधार', जैसे उपन्यासों के आधार पर की जा सकती है।

संजीव के उपन्यासों में कथ्य की मौलिकता के साथ-साथ अनेक संभावनाएँ भी विद्यमान हैं। उनके उपन्यासों में कथ्य की नवीनता है और उसकी व्यापक धरातल पर अभिव्यक्ति भी हुई है। उनके उपन्यासों के कथ्य पिछड़े अंचलों की त्रासदी-विशेषकर आदिवासी अभिशप्त जीवन, औद्योगिकीकरण के कारण होने वाले विस्थापन, दलित

चेतना, जाति प्रथा, वर्ण व्यवस्था, लोक कथाकार, लोक-जीवन और लोक संस्कृति से संबद्ध विभिन्न संदर्भों को उजागर करते हैं। कथाकार संजीव व्यक्ति की कहानी की अपेक्षा किसी अंचल, संदर्भ अथवा समस्या को व्यापक धरातल पर व्याख्यायित करते हैं। 'किसनगढ़ के अहेरी' में किसनगढ़ एक गाँव न होकर भारतीय गाँवों का प्रतीक है जहाँ पिछड़ापन, शोषण और रुग्ण मान्यताएँ और आडम्बरों का बाहुल्य है। इसी तरह 'सर्कस' उपन्यास में सर्कस में काम करने वाले कलाकारों के दयनीय जीवन का चित्रण समग्रता के साथ किया गया है। 'सावधान! नीचे आग है', 'धार', और पाँव तले की दूब' में कोयला अंचल तथा औद्योगिक क्षेत्र का परिवेश चित्रित हुआ है। 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास में 'थारू' आदिवासी समाज की सम्पन्न लोक संस्कृति की विरासत का विस्तार से चित्रण किया गया है। इसमें थारूओं का अतीत और वर्तमान को समग्रता से उजागर किया गया है। 'सूत्रधार' में भोजपुरी के लोक कथाकार भिखारी ठाकुर के माध्यम से भारतीय जाति-व्यवस्था की कटु और निर्मम आलोचना की गई है। साथ ही, भोजपुरी क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं का जीवन्त और मार्मिक चित्रण किया गया है। 'आकाश चम्पा' मिथिलांचल के पूरे परिवेश को उजागर करता है। 'रानी की सराय' किशोरोपयोगी उपन्यास है जिसमें मनोरंजन के संदर्भों के साथ-साथ गाँवों के ऊँच-नीच, स्वामी-सेवक के भेदभाव के कारण उत्पन्न परिस्थिति का चित्रण किया गया है। उसमें मास्टर हुसैनी के द्वारा गाँव के संगठन, सुधार और भाई-चारे के संबंध को फिर से स्थापित करने जैसे सामाजिक मंगल के कार्यों को दिखाया गया है। मानव मानव से प्रेम करे। मानव मानव बना रहे, यही उपन्यास का संदेश है। 'रह गई दिशाएँ इसी पार' एक वैज्ञानिक खोज का उपन्यास है जिसमें टेस्ट-ट्यूब बेबी के बहाने जन्म-मृत्यु, जीवन-मरण, जेंडर, ईश्वर और अनन्त के रहस्यों पर एक वैज्ञानिक की तरह चिंतन किया गया है। इसमें प्रेम, प्यार, संभोग और प्रजनन के सभी रहस्यों और उनसे संबद्ध अध्यात्म को ध्वस्त कर दिया गया है। इस तरह संजीव के कथा-साहित्य की भूमि बड़ी विस्तृत है। उसके कथ्य वैविध्यपूर्ण है।

जहाँ तक संजीव के कथा-साहित्य के शिल्प-पक्ष का संबंध है, संजीव शिल्प के संदर्भ में अभिनव प्रयोग-धर्मी रचनाकार हैं। उनकी अभिनव प्रयोगधर्मिता कथा-साहित्य के दोनों प्रमुख रूपों-उपन्यासों और कहानी-में देखने को मिलती है। उनका लेखन एक प्रयोग है, एक प्रक्रिया है, और एक इतिहास की पंक्ति है जिसे उधेड़ने में वह आहिस्ता-आहिस्ता जिंदगी की तलाश करते हैं। कथा-वस्तु की तैयारी, पात्रों का चयन और मार्मिक घटनाओं का क्रमवार प्रस्तुतिकरण उनकी अपनी विशेषता है।

संजीव का उपन्यास-साहित्य शिल्प पक्ष की दृष्टि से पुष्ट एवं परिपक्व है। इसमें शिल्पगत विविधता के दर्शन होते हैं। इसमें नये-पुराने समस्त शिल्पगत परिस्थितियों का प्रयोग किया गया है। उपन्यासों के प्रचलित शिल्प-तत्त्व-कथा, पात्र, चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण, उद्देश्य की सुन्दर योजना उनके उपन्यासों में हुई है। मुख्य कथा की प्रासंगिक कथाएँ आगे बढ़ाने में सहायक हैं। कथावस्तु मौलिक तथा नवीन है। पात्र विभिन्न वर्गीय चरित्र हैं, संवाद सहज, स्वाभाविक एवं पात्रों के अनुरूप हैं। समकालीन जीवन का यथार्थ चित्रण वातावरण को सजीवता प्रदान करने में समर्थ है। उपन्यासों की भाषा खड़ी बोली हिंदी है किन्तु उसमें भोजपुरी, अवधी, बाँगला, आदिवासियों की भाषा तथा बोलियों के प्रयोग भी देखे जाते हैं। इन उपन्यासों में संस्कृत, अरबी-फारसी, अंग्रेजी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। 'सावधान! नीचे आग है', तथा 'सूत्रधार' में भोजपुरी शब्दों का बाहुल्य है जबकि 'किसनगढ़ के अहेरी' में अवधी का तथा 'सर्कस' में बाँगला शब्दों का प्रयोग मिलता है। कथाकार संजीव ने लक्षणा-व्यंजना शब्द शक्तियों, उपमादि अलंकारों, मुहावरों, लोकोक्तियों का भी प्रयोग संदर्भों और अवसरों के अनुरूप किया है। अन्ततः कहा जा सकता है कि संजीव के उपन्यासों का शिल्प पक्ष भी कथ्य और विचार पक्ष के समान ही नवीन, रोचक, उदात्त एवं गरिमामय है।

संजीव के कहानी साहित्य में किसी विशेष शिल्प का आग्रह नहीं दिखायी पड़ता। एक ही कहानी में कई शिल्पगत प्रवृत्तियों का प्रयोग दिखायी पड़ता है। किसी यथार्थ या

विषय को उसकी बहुआयामिता के साथ अभिव्यक्त करने के कारण उनकी बहुत-सी कहानियों का शिल्प औपन्यासिक बन गया है। चूँकि संजीव प्रयोगधर्मी रचनाकार हैं इसलिए उनकी कहानियों का शिल्प वैविध्यपूर्ण है। उन्होंने अपनी कहानियों को प्रेषणीय एवं प्रभावशाली बनाने के लिए नये-पुराने प्रचलित-अप्रचलित सारी शिल्पगत पद्धतियों का प्रयोग किया है। कहानियों के शीर्षक छोटे, सीधे सामान्य हैं, कहीं लम्बे भी हैं। 'प्रेतमुक्ति', 'अपराध', 'टीस', 'मानपत्र' छोटे-छोटे शीर्षक हैं। कहानियों के कथावाचक सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के हैं। भाषा पात्रों के अनुरूप है। पात्रों की विविधता के कारण भाषा भी वैविध्यपूर्ण है। भाषा पात्र, परिवेश, पेशा, वर्ग, मानसिक स्थिति के अनुरूप है। कहानियों में ठेठ देहाती, लोक-बोलियों से लेकर खड़ी बोली हिंदी, अंग्रेजी, बाँगला, भोजपुरी, अवधी, मैथिली, संथाली आदि भाषाओं के शब्दों के प्रयोग हुए हैं। कहानियों में विविध शैलियों को ग्रहण किया गया है। 'अपराध', 'लिटरेटर', 'भूमिका', 'ऑपरेशन जोनाकी' में आत्मकथात्मक, 'शिनाख्त' में संवाद, 'सिपियों का खुलना' में वर्णनात्मक, 'आप यहाँ हैं', 'लिटरेटर', 'धावक', 'प्रेतमुक्ति' में पत्रात्मक शैली का, 'नेता', 'कन्फेशन' में भाषण शैली, 'कठपुतली', 'टीस', 'घर चलो दुलारीबाई' में पूर्व दीप्ति शैली, 'सागर-सीमान्त' में काव्यात्मक, 'प्रेतमुक्ति' तथा 'आहट' आदि कहानियों में स्वर कल्पना (फैंटेसी) शैली का प्रयोग किया गया है। इस तरह संजीव की कहानियों का शिल्पपक्ष भी वैविध्यपूर्ण एवं बहुरंगी है। इस तरह शिल्पगत विशेषताओं के कारण भी संजीव अपने समकालीन कहानीकारों से पृथक् होते परिलक्षित होते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संजीव के कथा-साहित्य के शिल्प पक्ष की अपनी निजी विशेषताएँ हैं जो समकालीन कथाकारों में देखने को नहीं मिलती हैं। संक्षेप में, संजीव की कहानियों में शिल्पगत प्रयोगधर्मिता परिलक्षित होती है। वह केवल प्रयोग के लिए नहीं, बल्कि अपने कथ्य के सार्थक संप्रेषण के सामर्थ्य के लिए भी है। वर्तमान में संजीव किसानों की आत्महत्या की समस्याओं पर लिख रहे हैं।

संपर्क: 07044991270

क्यों न हो कथा-आलोचना में एक और युग- “देखकीनन्दन खत्री युग”

प्रदीप सक्सेना

1986 में चंद्रकांता एवं चंद्रकांता संतति पर लिखते हुए मैंने अपने आधार लेख का शीर्षक रखा था- ‘चंद्रकांता : यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य।’¹ यह पर्याप्त विस्तृत लेख था जो ‘आलोचना’ के डबल कॉलम में 36 पृष्ठों में छपा था। हस्तलिखित लगभग 78 पृष्ठ थे। इससे पहले नामवर सिंह, ‘हंस’ के यशस्वी संपादक राजेंद्र यादव का जबर्दस्त लेख ‘आलोचना’ में ही छाप चुके थे- ‘दयनीय महानता की दिलचस्प दास्तान : चन्द्रकांता संतति’। यह सन् 1980 की बात है। बाद में इसे भारत भारद्वाज ने राजेंद्र यादव पर केंद्रित ग्रंथ में शामिल कर लिया था।² पाठक देख सकते हैं यह भी लगभग 40 पृष्ठों में है पुस्तक के। ‘आलोचना’ के 20-25 पृष्ठों में समाया था। उस समय मैंने नामवर जी के समक्ष यथार्थवाद के स्तरों और पैटर्नों पर केंद्रित कुछ लेखों को ‘आलोचना’ के लिए तैयार करने का प्रस्ताव किया था जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। नया पढ़ना, नया लिखना, नया प्रकाशित करना इसके लिए वे जाने जाते रहे हैं। अभी यह बहस मैंने शुरू ही की थी और दो लेख ही ‘आलोचना’ में प्रकाशित हुए थे कि ‘आलोचना’ का प्रकाशन बंद हो गया। शेष लेख फिर बहुत अंतराल से अन्य-अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। अर्थात् ‘चन्द्रकांता’ पर 1986 में जो बहस शुरू की थी, वह 2004 में प्रकाशित मेरी पुस्तक ‘तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र’ तक जारी रही। अब जब यह लेख लिखा जा रहा है, इसका मतलब तो यही है कि वह बहस अभी जारी है, और कुछ भविष्य में भी जारी रहने की संभावना है। क्योंकि बहस साहित्य के दायरे से बाहर चली गयी थी- समाज विद्वानों के दायरे में, इसलिए साहित्य के दायरे के सवालों पर बहस रह गयी थी। भाषा, शिल्प, कथा-वस्तु, रूप, संरचना, पात्र, संवेदना, उपन्यास की संरचना, नवजागरण में उपस्थिति, राष्ट्रीय तत्त्व, फैटेसी वगैरह पर तो छोड़िए संस्कृत, फारसी परंपरा और संस्कृति पर प्रश्न उठाये थे स्वयं आलोचकों ने। उन पर भी कोई बहस नहीं हो सकी। सहारा शुक्ल जी के इतिहास का ही रहा और ज्यादा से ज्यादा तिलिस्मी-ऐयारी-जासूसी प्रवृत्ति वाले नामकरण का। बस यह जरूर रहा कि अक्सर आलोचना की दरिद्रता को स्वीकार किया गया। इस पर कई आलोचक एक मत थे कि समान्यतः हिन्दी आलोचना दरिद्र है और विशेषतः कथा-आलोचना, काव्यालोचना की परंपरा फिर भी समृद्ध है। मार्क्सवादी आलोचना भी इसमें शामिल है। उसे एक और सवाल का जवाब भी ढूँढ़ना है कि पश्चिम में तो मार्क्सवादी आलोचना ने कथा साहित्य के क्षेत्र में ही विकास किया था, लेकिन यहाँ ऐसा क्यों नहीं हो

सका ? और अब तो और भी कई बड़े सवालों के जवाब भी उसे ढूँढ़ने होंगे।

विद्यार्थियों, अध्यापकों और विद्वानों में समान रूप से लोकप्रिय ग्रंथ 'हिंदी का गद्य साहित्य' के लेखक डॉ. रामचंद्र तिवारी को भी यहाँ स्मरण करना चाहूँगा, जिन्होंने 1955 में लिखित इस गद्य साहित्य के इतिहास को लगातार हर अगले संस्करण में संशोधित और परिवर्द्धित करने का काम किया पूरी ईमानदारी और श्रम से। ताकि वे उन लोगों के साथ न्याय कर सकें जो हिंदी-गद्य साहित्य के विकास को जानना-समझना चाहते हैं और उसे विकसित करना चाहते हैं। वे मार्क्सवादी नहीं थे, लेकिन प्रगति को समझते थे। कई 'प्रगतिवादियों' से बेहतर थे जो मार्क्सवादी थे, लेकिन साहित्य की क्रांतियों से अनभिज्ञ थे और राजनीतिक क्रांति के सुनिश्चित ढाँचों से जो बाहर नहीं निकल सके। इतिहास में छान-बीन की जिन्हें जरूरत महसूस नहीं हुई। बने-बनाये निष्कर्ष और निर्जीव शब्दावली का जिन्हें अभ्यास रहा। आलोचना को प्रभावित होना ही था। 'यथार्थवाद के प्रथम उत्थान' के लेख को उन्होंने पढ़ा और मुझे सूचित किया कि वे इस मान्यता को अपने इतिहास में शामिल कर रहे हैं। 2004 के संस्करण में उन्होंने अपने मत को शब्दों में पुनर्गठित किया-

“इधर खत्री जी के उपन्यासों का पुनर्मूल्यांकन करते हुए प्रदीप सक्सेना ने यह प्रमाणित किया है कि 'चन्द्रकांता' यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य है। वह तिलिस्मी रचना नहीं है। वस्तुतः चन्द्रकांता दो युगों के उस सन्धि स्थल पर खड़ी है, जहाँ से एक युग ढह रहा है और दूसरा उभर रहा है। एक जा रहा है- दूसरा आ रहा है। तब फिर यह कृति दयनीय महानता की नहीं- उस नयी सुबह की पहली दास्तान है, जिसमें उस समय के भारत की अँगड़ाइयाँ सुरक्षित हैं।' प्रदीप सक्सेना ने अपनी बात प्रमाणित करने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक संदर्भों को विस्तार से प्रस्तुत किया और यह दिखाया है कि तत्कालीन जीवन-स्थितियों पर गौर किया जाय तो 'चन्द्रकांता' में कुछ भी अमानवीय नहीं है। निश्चय ही सक्सेना जी ने 'चन्द्रकांता' और उसकी परंपरा के उपन्यासों पर फिर से सोचने-विचारने की शुरुआत करके हिंदी कथा-आलोचना को एक नयी दिशा दी है।”³

यह नयी दिशा क्या थी ? यह जनवादी चिन्ताधारा का विकास थी। अन्य मार्क्सवादी अग्रजों से भिन्न। 'साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र' की खोज। जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा ने मेरे पत्र के उत्तर में 22-01-1986 के पत्र में लिखा था- “आपने लिखा है: तिलिस्मी साहित्य पर संभवतः आपने नहीं लिखा है”, मुझे आपकी बात सही लगती है।

तिलिस्मी होने से साहित्य साम्राज्य विरोधी न हो यह आवश्यक नहीं है। यदि 'चन्द्रकांता, चन्द्रकांता संतति' में आपको जनवादी तत्त्व मिलें तो उन पर अवश्य लिखें।”⁴

इसी तरह जासूसी साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप के बारे में मैंने जब अपनी बातें उन्हें लिखी तो 25 दिसंबर 1986 के पत्र में उन्होंने सैद्धांतिक सहमति दी- “आप जासूसी साहित्य के साम्राज्यविरोधी पक्ष को उद्घाटित करना चाहते हैं, अवश्य करें। जासूसी साहित्य साम्राज्यविरोधी चेतना फैलाने का साधन बन सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।”⁵

जाहिर है कि इस दृष्टि से विचार नहीं किया गया था।

प्रख्यात आलोचक परमानंद श्रीवास्तव ने इस पुस्तक की समीक्षा लिखी थी, उन्होंने भी यह बात नोट की थी- “प्रदीप सक्सेना ने चन्द्रकांता' को यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य कहा है। साथ ही उसके साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र की एक पूरी थीसिस बनायी है। यह खोज का रोमांस नहीं, रोमांस के यथार्थ की गहरी पड़ताल का परिणाम है। मार्क्सवादी छवि को अनिवार्यतः अपने चिंतन का आधार बताते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी इसे रहस्यपूर्ण बताकर ही संतुष्ट थे। प्रदीप सक्सेना ही पहले आलोचक हैं जो इस कृति का जनवादी संस्कृति और साहित्येतिहास लेखन के संदर्भ में एक 'गठनात्मक विश्लेषण' कर सके हैं।”⁶

साथ ही उन्होंने यह भी दर्ज किया- “इस महत्वपूर्ण खोज पर एक तरह की चुप्पी संकेत है कि साहित्य के पाठक तिलिस्मी साहित्य को अब तक लोकप्रिय और रोमांचक मानकर ही संतुष्ट हैं।”⁷

अवश्य ही कथा-साहित्य के दूसरे प्रमुख आलोचक मधुरेश ने 1980 में देवकीनंदन खत्री पर साहित्य अकादमी के लिए जो मोनोग्राफ तैयार किया था उसमें आलोचकों द्वारा खत्री जी की उपेक्षा को रेखांकित करते हुए कहा था-

“प्रेमचंद पूर्व हिंदी-कथा-साहित्य में देवकीनंदन खत्री की स्थिति बहुत कुछ एक श्लाका-पुरुष जैसी है लेकिन इसे हिंदी आलोचना का दुर्भाग्य ही समझा जाना चाहिए कि आज तक उनसे संबंधित कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है।”⁸

कहा जा सकता है कि वह मोनोग्राफ ही पहली पुस्तक थी। और मधुरेश भी उसे मार्क्सवादी आलोचक के रूप में ही जाँच परख कर रहे थे- “एक मार्क्सवादी आलोचक होने के नाते यह ख्याल हमेशा मेरे सामने रहा कि साहित्य की सामाजिक चिन्ता की उपेक्षा से बचकर और अपने प्रतिमानों को अकारण लचीला बनाये बिना भी एक ऐसे पुराने लेखक को लेकर हमारा रवैया क्या होना चाहिए जो बहुत स्थूल ढंग से सामाजिक चिन्ता को अपने लेखन के केंद्र में रखकर चलने का आग्रह न रखता हो?”⁹

क्योंकि

“कोई भी सार्थक समझी जाने वाली आलोचना सामाजिक शक्तियों के द्वंद्व की उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकती है। परंतु उसके साथ ही, आलोचना की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी यह भी है कि अपनी परंपरा को वह समुचित ऐतिहासिक संदर्भों में पुनर्मूल्यांकन और पुनर्विश्लेषित करने का जोखिम भी उठाये।”¹⁰

जाहिर है कि आलोचना के विकास का रास्ता जोखिमों से होकर ही जाता है। ‘चन्द्रकांता’ एवं ‘चन्द्रकांता संतति’ की व्याख्या में पूरी कृति ही हमने प्रस्तुत कर यह जोखिम उठाया है। विद्वान मित्रों ने इसे महत्वपूर्ण पाया है।

... ..

देवकीनंदन खत्री के मूल्यांकन, पुनर्मूल्यांकन या पुनर्पाठ या पुनर्विश्लेषण की जरूरत हमें क्यों महसूस नहीं हुई? या नहीं होती? क्योंकि हमारे पास कुछ पूर्णतावादी विचार मौजूद हैं। जैसे कि, उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद जो कर गये वह कोई नहीं कर सकता। या, वह भारतेन्दु मंडल में तो थे नहीं। या कि, उनका उद्देश्य तो बस मनोरंजन था। वह एक तरह का हल्का साहित्य था। या कि, वह लेखक बनना नहीं चाहते थे, यह तो महज संयोग था कि वह लेखक बन गये। वगैरह- वगैरह। इन पूर्णतावादी विचारों के अतिरिक्त हिन्दी आलोचना में एक प्राध्यापक वर्गीय समुदाय भी अपने वर्चस्व के लिए प्रयत्नरत रहता है। इसे

हम तत्त्ववादी समुदाय भी कहते हैं। यह समुदाय परंपरा की छानबीन, इतिहासबोध की समस्या, साहित्य से संवेदना का संबंध, वस्तु का विधागत रूपग्रहण, यथार्थ के पैटर्न या मनुष्य की प्रतिष्ठा पर कोई भी गंभीर बहस उठायी जाती है तो यह समुदाय बहुत बुनियादी सवाल उठा देता है कि “आखिर वह चीज है क्या?” यदि चन्द्रकांता या चन्द्रकांता संतति के गठन की बात की जायेगी यह समुदाय पूछेगा कि सवाल है, “यह उपन्यास होता क्या है?” उपन्यास के कितने तत्त्व इसमें हैं? इस पर उपन्यास की कौन सी परिभाषा लागू होती है? वगैरह।

शब्दार्थ से लेकर परिभाषा तक फैली इस गंभीरता को देखकर मुझे महापंडित राहुल सांकृत्यायन का एक प्रसंग याद आ जाता है कि जब वह देवली कैप जेल में थे तो वहां तमाम राष्ट्रीय नेता भी थे और वे अपनी संस्कृति पर एक समझ बनाने के लिए गीता पर भी वाद विवाद कर रहे थे। गीता के दर्शन पर भी बहस कर रहे थे। लेकिन तभी वहां उपर्युक्त गंभीर समुदाय के सदस्य प्रकट हुए और उन्होंने एक बुनियादी सवाल उठा दिया कि कोई यह तो बताये कि ‘गीता’ में ‘ग’ कितनी बार आया है! जाहिर है, सभी निरुत्तर हो गये- इतनी गहराई से किसी ने उसे पढ़ा नहीं था। इसी तरह के बुनियादी सवाल ‘उपन्यास’ को लेकर भी उठाये गये और उठाये जाते रहे हैं।

भारतेन्दु मंडल के ही विद्वान थे पं. अंबिकादत्त व्यास। संस्कृताचार्य थे। उनका ग्रंथ है- ‘गद्य काव्य मीमांसा’! जिसके प्रथम पृष्ठ पर लेखक की पदवी भी अंकित है- ‘भारत रत्न-भारत भूषण- साहित्याचार्यादि, विविध पदवी-विभूषित श्रीयुत पंडित अंबिकादत्त व्यास विचरित’। युवा आलोचक रमेश कुमार ने अपने शोधालेख में दर्शाया है-

“व्यास जी ने ‘गद्य-काव्य मीमांसा’ की रचना 1896 में की थी जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा बनारस के राज-राजेश्वरी प्रेस से मुद्रित होकर 1897 में प्रकाशित हुई थी। उपन्यास विधा के प्रचलन और रचना के नियम भेदों-प्रभेदों की जानकारी के लिए सभा ने इस कृति का लेखन करवाया था।”¹¹ स्वयं व्यास जी ने उपोद्घात में बताया है कि वे भारतेन्दु की प्रेरणा से 1876 में बांग्ला भाषा सीख चुके थे। काशी के बंगभाषी समाज के पुस्तकालय से

बंगला के उपन्यास लेकर पढ़ रहे थे- “वहाँ प्रातः स्मरणीय बंकिम बाबू के अपूर्व उपान्यासों के पढ़ने से ऐसा विलक्षण आनंद मिला कि पुस्तकालय में मैंने कोई उपन्यास बेपढ़ा न छोड़ा।”¹² और ‘गद्यकाव्य’ की टोह में संस्कृत सागर में गहरे उतर गये। संस्कृत के गिने-चुने गद्यकाव्यों में उन्हें बाणभट्ट की ‘कादंबरी’ अमृतमय ग्रंथ लगा। 1878 में अपने पिताजी से ‘साहित्य-दर्पण’ पढ़ते हुए पिता समेत खुद भी वे गद्य-काव्य विवेचन प्रकरण से असंतुष्ट हुए।¹³ काशिराज की सभा के पण्डित ताराचरण तर्करत्न से न्याय शास्त्र पढ़ते हुए इस संदेह के निराकरण में तर्करत्न ने कहा कि ‘विश्वनाथ’ ने जैसा कादंबरी और हर्षचरित में देखा वही लिख दिया है। आलोचना नहीं की है। इसी असंतोष के कारण बंगला, अंग्रेजी और गुजराती भाषाओं में लिखे ‘गद्य काव्य’ भी पढ़ डाले।¹⁴ रमेश कुमार ने यह ठीक लक्ष्य किया है कि “स्वयं व्यास जी का असंतोष तब दूर हुआ जब उन्होंने संस्कृत में एक नया गद्यकाव्य रच डाला।”¹⁵

अब देखिए संस्कृत-सागर की तलहटी तक जाकर सब गद्य-काव्य छान डाले। इधर अंग्रेजी, बंगला और गुजराती के गद्यकाव्य सब पढ़ डाले। मूर्धन्य पंडितों से प्रशंसा भी पा ली। ‘शिवराज विजय’ से स्वयं गद्य-काव्य रचयिता भी बने और गद्यकाव्य का सिद्धांत भाग आलोचना भी तैयार कर दिया और इसमें सहयोग दिया स्वयं देवकी नंदन खत्री ने। लेकिन इतनी लंबी-चौड़ी बौद्धिक कवायद से हासिल क्या हुआ? ‘उपन्यास’ शब्द मिला लेकिन उसका वह अर्थ नहीं मिला जो आधुनिक युग में या आजकल प्रचलित है। अमर सिंह के अमरकोश से लेकर पं. अंबिकादत्त व्यास तक गद्य का और गद्य में ‘उपन्यास’ का वह अर्थ नदारद है। उपन्यास के पंडित जी ने 9 भेदों की सृष्टि की-

“1. कथा 2. कथानिका 3. कथन 4. आलाप 5. आख्यान 6. आख्यायिका 7. खण्डकथा 8. परिकथा और 9. संकीर्ण”¹⁶ हद तो यह है कि मामला 9 तक सीमित नहीं रहा- शब्द-तत्त्व-मीमांसा के बल पर इन नौ भेदों के अलग-अलग लक्षण निरूपित करते हुए व्यास जी “उनचास अर्बुद, छह करोड़, इकतालीस लाख, अठानवे हजार, चार सौ भेदों”¹⁷ तक जा पहुँचे। अभी तक भारतीय जन 33 करोड़ देवताओं की गुत्थी ही नहीं सुलझा पाये हैं कि

उपन्यास के अरबों की मीमांसा का दाय और आ पड़ा। इतनी बड़ी संख्या में भी भेद हो सकते हैं, यह देखकर कितने ही विचारक मूर्च्छित हो सकते हैं। उनमें मैं भी हो सकता हूँ।

X X X X X X

कैसी विडंबना है कि उपन्यास नामक साहित्यांग देन है आधुनिक युग की लेकिन शब्द ढूँढा जा रहा है सहस्राब्दियों पहले। जैसे कि ‘राष्ट्र’ का अर्थ लिया जा रहा है आधुनिक युग से लेकिन शब्द ग्रहण किया जा रहा है ऋग्वेद से। जबकि भाषा विज्ञान बराबर यह सिखाने की कोशिश कर रहा है कि शब्द केंचुल की तरह है- अर्थ सरकता रहता है। हर युग, हर दौर और चरण तक का अपना अर्थ होता है। कहीं वह युक्त होता है, कहीं मुक्त। आदमी, मनुष्य या इंसान का झमेला ही शताब्दियों तक फैला है, ‘नरक्षेत्र’ में ले जाया जायेगा अर्थ तो क्या होगा! पुराना देश है यह तो ठीक लेकिन पुराने होने पर इतना गर्व ठीक नहीं! अगर कहीं से भी आधुनिक न बने तो जाहिर है विकास शब्द के मायने भी भूल जायेंगे सब। शब्दाचरण में भी कुछ इतिहासबोध से सहायता मिल सकती है, जैसे कि हम यह देखें कि सर मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी शब्द कोश में ‘उपन्यास’ के कुछ अर्थ इस प्रकार दिये हैं- उल्लेख (MENTION), अभिकथन (STATEMENT), सम्मति (SUGGESTION), उद्धरण (QUOTATION), और संदर्भ (REFERENCE), इनमें से उपन्यास विवेचन किया जाए तो कैसा रहे? सही है कि संस्कृत के नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों में ‘उपन्यास’ रूपक की प्रतिमुख संधि के उपभेद की संज्ञा है। यहाँ इसका अर्थ प्रसादन लिया गया है। इसकी दूसरी व्याख्या भी है, जिसके अनुसार ‘अर्थ’ को युक्ति युक्त रूप में उपस्थित करना ही उपन्यास है।- ‘उपपत्ति कृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः।’¹⁸

अग्निहोत्री जी ने यह भी दर्शाया है कि- “भारतवर्ष की कई प्रान्तीय भाषाओं में भी यह शब्द अन्य अर्थों में प्रयुक्त होता है। दक्षिण की भाषाओं (तेलुगु आदि) में यह शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त होता है जिस अर्थ में हिन्दी के व्याख्यान, ‘वक्तृता’ आदि शब्द प्रचलित हैं। ‘उपन्यास’ का दक्षिणात्य प्रयोग उत्तर भारतीय प्रयोग की अपेक्षा प्राचीन

साहित्य की प्रयोग परंपरा से अधिक सम्बद्ध है। अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक (23), निर्यातः 'शनकैदलीक वचनोपन्यास मालीजनः' में व्यवहृत 'उपन्यास' बहुत कुछ इसी अर्थ का वाचक है।¹⁹

अग्निहोत्री जी कहते हैं—

“उपर्युक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि यद्यपि 'उपन्यास' शब्द संस्कृत-वाङ्मय में प्रचुरता से प्रयुक्त होता था, किन्तु फिर भी आज के व्यवहृत उपन्यास शब्द के अर्थ में उसका प्रयोग नहीं होता था।”²⁰

अर्थात्

“गद्यबद्ध पर्याप्त लम्बी कथा के रूप में उपन्यास शब्द का प्रयोग सर्वथा नूतन उद्भावना है जो हमें आधुनिक युग में उपलब्ध हुई है। समय क्रम से आज उपन्यास का प्रधान तथा अधिकतम प्रचलित अर्थ यही है और इस शब्द के प्राचीन अर्थ केवल संस्कृत-काव्य-विचार तक ही सीमित हैं।”²¹

'दक्षिण की भाषाओं में अंग्रेजी 'नॉवेल' शब्द के लिए उसी के वजन पर संस्कृत शब्द रूढ़ अर्थ में परिवर्तित कर दिया गया यह शब्द है 'नवल'। गुजराती में इसके साथ कथा शब्द को जोड़कर 'नवल कथा' कहा जाता है। यह वस्तुतः उपन्यास की प्रकृति गत सर्वोत्तम विशेषता का परिचायक है।²²

अर्थात्—

“उपन्यास वस्तुतः 'नवल' अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है।”²³ लेकिन यह आया कहाँ से? सबने कहा— बंगला से। बंगला में कहाँ से आया? पश्चिम से या वेदों से? लड़ाई तो यही है। और यहीं है। जब विमान तक यहाँ बनते-उड़ते थे तब यह उपन्यास बेचारा क्या है? यहीं-कहीं पैदा हुआ होगा। संस्कृत में, नहीं तो अरबी, फ़ारसी में? पं. अंबिकादत्त की तरह पं. किशोरी लाल गोस्वामी ने भी यह लड़ाई संस्कृत के पक्ष में लड़ी। उन्होंने भी अपनी रचना 'प्रणयिनी परिणय' के 'उपोद्घात' में यह चुनौती दी और ली—

“...परंतु किसी-किसी महाशय का यह कथन है कि 'उपन्यास' पूर्व समय में यहाँ प्रचलित नहीं था, वरन यह अंग्रेजों की देखा-देखी लोगों ने नॉवेल (NOVEL), के स्थान में उपन्यास की कल्पना कर लिया।”²⁴ उपन्यास

के स्वरूप का विश्लेषण करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि “अंग्रेजी प्रभाव की बात भ्रांत है।”²⁵ और “उपन्यास का जन्म भारत में ही हुआ है।”²⁶ अतः उपन्यास की विधा प्राचीन भी हुई और स्वदेशी भी। उन्होंने भारतीय उपन्यासों में जो प्रचलित हैं, उनका नामोल्लेख करते हुए कहा “.... दशकुमार चरित्”, ‘वासवदत्ता’, ‘श्री हर्षचरित्’, कादम्बरी आदि उपन्यास इसकी प्राचीनता में जाज्ज्वल्य प्रमाण हैं।”²⁷

ठीक यही हादसा 'नवजागरण' के मामले में हुआ। पहले वह यूरोपियन प्रभाव से, अंग्रेजों के माध्यम से (RENAISSANCE), के समतुल्य देखा गया। फिर वह पुनर्जागरण, लोक जागरण में तब्दील होता हुआ यूरोप से भी श्रेष्ठ वैदिक युग तक जा पहुँचा।

क्योंकि हम तो विश्वगुरु थे, हैं, और रहेंगे। प्राचीनतम सभ्यता के स्वामी। पश्चिम ने स्वयं हमसे सीखा उपन्यास लिखना!

X X X X X X

जब स्वदेश प्रेम की यह आग पश्चिम को फूंक सकती है, तो देवकीनंदन क्या चीज हैं! इतिहास, इतिहास बोध, तथ्य, वस्तुनिष्ठता ये सब भी बेकार चीजें हैं। सही चीजें क्या हैं? वे ही जिन्हें प्रतिभाहीन शब्दार्थ-संप्रदाय चला आ रहा है। इस सम्प्रदाय की छानबीन, विश्लेषण, अन्तर्दृष्टि और व्याख्या में कोई रुचि नहीं है।

सभी जानते हैं, शोध के बिना आलोचना का विकास असंभव है। और, आलोचना के बिना शोध दोहराव मात्र है। चाहे आचार्य शुक्ल का मामला हो, डॉ. रामविलास शर्मा का या किसी का भी यदि बुद्धिजीवी समुदाय नये तथ्यों और तर्कों का विश्लेषण पद्धतियों का, या जीवन-दृष्टियों का स्वागत नहीं करता तो वह स्वयं जड़ता के तिलिस्म में गिरपतार हो जायेगा। आलोचना का अर्थ निरादर करना नहीं है! आलोचना से सिद्धांतों की पुष्टि होती और योगदान स्पष्ट होता है। सामर्थ्य नहीं हो तो बात अलग है। अपने मत के समर्थन में हम यह प्रस्ताव करना चाहेंगे कि उपन्यास की 140 वर्षीय यात्रा में हमने उपन्यास सिद्धांत की कितनी पुस्तकें देखीं? पश्चिम से भिन्न एशिया और भारत की ओर से उपन्यास-आलोचना में क्या योगदान

किया? उपन्यास-विमर्श में स्वयं उपन्यासकारों के मतों को अपने विश्लेषण का क्या और कितना आधार बनाया? साहित्य के इतिहास दर्शन में विधाओं की शक्ति का कितना निदर्शन किया? जबकि उपन्यासकारों ने पर्याप्त सैद्धांतिक सामग्री प्रदान की है। भारत की भाषाओं के कथा-साहित्य में प्रभूत सिद्धांत-सामग्री मौजूद है। बंगला, मराठी, हिंदी, मलयालम, तमिल, तेलुगु सभी जातीय भाषाओं का कथा-साहित्य इसका प्रमाण देता है। देखें, आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में हिंदी उपन्यास के आरंभ-काल में क्या पाया और उस आधार पर किन स्थापनाओं का निर्माण किया। यह भी ध्यान रखना होगा कि साहित्य के उस प्रथम अमर साहित्य में आलोचना का स्वरूप वह नहीं हो सकता था जो स्वतंत्र आलोचना ग्रंथ का होता जैसे कि 'रसमीमांस' का। फिर भी पर्याप्त सैद्धांतिक सामग्री है वहाँ। जबकि शुक्ल जी ने कहा है भूमिका में कि "यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है। इससे इसका जो रूप मैं रखना चाहता था वह भी इसे पूरा-पूरा नहीं प्राप्त हो सका है।"²⁸ जब जल्दी में तैयार की गई पुस्तक तब भी वह हिल नहीं पा रही थी। बाद के आचार्यों से तो तसल्ली से तैयार कर पाते शुक्ल जी तब क्या होता? तब हम लोग क्या करते? फिर भी मेरा कहना यह है कि बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ता। सामग्री की व्यवस्था वगैरह में ही पड़ता। विचार तो उनके पक ही चुके थे। ज्यादा-से-ज्यादा वर्तमान लोगों के कुछ नाम और जुड़ जाते और "उनका भय कम हो जाता" या "बला मोल लेना"²⁹ न पड़ती। क्योंकि वे अपना उद्देश्य तय कर चुके थे- "इस पुस्तक का उद्देश्य संग्रह नहीं था। इससे आधुनिक काल के अन्तर्गत सामान्य लक्षणों और प्रवृत्तियों के वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है।"³⁰ स्पष्ट है कि गद्य का आविर्भाव 'खड़ी बोली गद्य' और 'गद्य का प्रवर्तन' ही वे लक्षण और प्रवृत्तियाँ हैं जो "आधुनिक काल" की संज्ञा को शुक्ल जी की दृष्टि से सार्थक करती हैं। न कि जातीयता, 1857 या राष्ट्रीय आंदोलन वगैरह!

"गद्य के प्रवर्तन" के अन्तर्गत ही आचार्य शुक्ल ने अपनी उपन्यास विषयक मान्यताएं पेश कीं। 'चन्द्रकांता' एवं 'चन्द्रकांता संतति' के संदर्भ में आचार्य शुक्ल की ये

ही समस्त मान्यताएं हैं। बंगभाषा की प्रगति और हिंदी भाषा की प्रकृति के बीच वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाते हुए हिंदी उपन्यासों की पृष्ठभूमि में बंगला उपन्यासों को श्रेय दिया उन्होंने जो कि बंगला सांस्कृतिक नव जागरण को व्यक्त करते थे। फिर उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र का बंगाल और बंगला साहित्य से संबंध प्रदर्शित किया। भारतेंदु मंडल के लेखकों की अनुवाद-प्रतिभा और उपन्यास-प्रेम पर प्रकाश डाला। अंग्रेजी ढंग के नॉवेल के लिए 'परीक्षागुरु' का उल्लेख किया। लेकिन अंग्रेजी ढंग के बाद आचार्य ने जब मौलिक उपन्यास की खोज की तो उन्हें बाबू देवकीनंदन खत्री ही दिखायी दिये।

लेकिन बाद के आलोचकों ने हिंदी नवजागरण को अठारह सौ सत्तावन से जोड़ देने के कारण एक तरफ तो बंगला नवजागरण को महत्त्व नहीं दिया, दूसरी ओर वे अंग्रेजी ढंग के उपन्यास के पीछे लामबंद हो गये। अंग्रेजी ढंग के प्रति हमारी श्रद्धा आज तक बनी हुई है। शुक्ल जी के समय में तो वे प्रभुवर्ग में थे। भारतीय संस्कृति की मौलिकता और साहित्य की गहनता का कोई बाजार नहीं था। ऐसे में हिंदी के मौलिक उपन्यासों पर कौन ध्यान देता।

1985 के आस-पास 'चन्द्रकांता' और 'संतति' कभी के रॉयल्टी फ्री हो चुके थे। सौ साल पुरानी रचना में अभी भी इतनी जान बाकी थी कि तमाम प्रकाशकों ने इसके सजिल्द संस्करणों तक को खपा डाला। आज भी कितने प्रकाशक उससे कमाई कर रहे हैं, क्यों? कहाँ है बाकी के "अंग्रेजी ढंग के उपन्यास?" अगर कोर्स से निकाल दिया जाये तो 'परीक्षागुरु' की वास्तविक परीक्षा हो जाये! 'वामाशिक्षक' तो प्रथम संस्करण के बाद ही अंतर्ध्यान हो गयी और एक शताब्दी बाद प्रकट हुई। पेश की हैं। वे कुछ इस प्रकार हैं:

- "नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नये ढंग के उपन्यासों की ओर भी ध्यान जा चुका था।

- अंग्रेजी ढंग का पहले-पहल हिंदी में लाला श्रीनिवास दास का परीक्षागुरु की निकला था।

- उसके पीछे बाबू राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू' और पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ

अजान और एक सुजान' नामक छोटे-छोटे उपन्यास लिखे।

– उस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे।

अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र ही हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।

– हरिश्चंद्र ने ही अपने पिछले जीवन में बंगभाषा के एक उपन्यास के अनुवाद में हाथ लगाया था, पर पूरा न कर सके थे। पर उनके समय में ही प्रताप नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के अनुवाद किये।³¹

– तदनंतर बा. गदाधर सिंह ने बंग विजेता और दुर्गेश नंदिनी का अनुवाद किया।

– संस्कृत की कादंबरी की कथा भी उन्होंने बंगला के आधार पर लिखी।

– पिछे तो बा. राधाकृष्ण दास, बा. कार्तिक प्रसाद खत्री, बा. रामकृष्ण वर्मा आदि ने बंगला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परंपरा चलायी वह बहुत दिनों तक चलती रही।

– इन उपन्यासों में देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।³²

अर्थात् “प्रथम उत्थान के अंत होते-होते तो अनूदित उपन्यासों का तांता बँध गया।”³³

तो आचार्य शुक्ल ने प्रथम उत्थान में, गद्य के निर्माण में विशेषकर उपन्यासों के क्षेत्र में बंगला नवजागरण के योगदान को रेखांकित किया। स्वीकार किया। तथा यह भी रेखांकित किया कि उन दिनों बंगला उपन्यासों की धूम थी और हिंदी-गद्य के प्रवर्तन में उनकी विशेष भूमिका थी। बनारस और भारतेंदु मण्डल के हिंदी लेखन का संबंध बंग प्रदेश, संस्कृति और भाषा से कितना अभिन्न था! हम इसे आचार्य शुक्ल की पहचान-प्रतिभा, ईमानदारी तथा वस्तुकला कहेंगे। साथ ही वे इतने सजग भी थे कि इससे हिंदी की प्रकृति और उसका स्वरूप भी खतरे पड़ गया था। भारतेंदु की प्रतिभा को उन्होंने इस रूप में पहचाना-

“संवत् 1922 में ये अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गये। उसी यात्रा में उनका परिचय बंगदेश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बंगला में नये ढंग के सामाजिक, देश देशांतर-संबंधी ऐतिहासिक और पौराणिक

नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया।”³⁴ साथ ही उन्होंने यह भी कहा- “हिंदी गद्य-साहित्य के इस आरंभकाल में ध्यान देने की बात यह है कि उस समय जो थोड़े से गिनती के लेखक को उनमें विदग्धता और मौलिकता थी और उनकी हिंदी हिंदी होती थी। वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचानने वाले थे।”³⁵ इसीलिए हरिश्चंद्र साहित्य बच गयी नहीं तो- “बंगला, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी के अनुवाद का वह तूफान जो पचीस-तीस वर्ष पीछे चला और जिसके कारण हिंदी का स्वरूप ही संकट में पड़ गया था, उस समय नहीं था।”³⁶

अब आया प्रवर्तन से प्रसार का काल अर्थात् द्वितीय उत्थान का समय। शुक्ल जी का यह मत है कि “इस द्वितीय उत्थान में आलस्य का जैसा त्याग उपन्यासकारों में देखा गया और किसी वर्ग के हिंदी लेखकों में नहीं। अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी कुछ दिनों तक धड़ाधड़ निकले।”³⁷ यही शुक्ल जी शीर्षक देते हैं: ‘मौलिक उपन्यास’।

मौलिक उपन्यास शीर्षक के अन्तर्गत पहला ही वाक्य हम यह पढ़ते हैं-

“पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे।”³⁸

शुक्ल जी की सहज टिप्पणी है- द्वितीय उत्थान काल के पहले ही ये नरेंद्रमोहनी, कुसुम कुमारी, वीरेन्द्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। उक्तकाल के आरंभ में तो-

‘चन्द्रकांता’ और ‘चन्द्रकांता संतति’ नामक इनके ऐयारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी किताबें नहीं पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गये।”³⁹ तत्काल यहीं पर वह अपना मूल्य-निर्णय दे देते हैं कि, “इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा; रस संचार, भावविभूति या चरित्र चित्रण नहीं।”⁴⁰

कि,-

“ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं।”⁴¹

इससे—

“ये साहित्य कोटि में नहीं आते।”⁴²

पर—

“हिंदी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन खत्री का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने और किसी ग्रंथकार ने नहीं।”⁴³

उससे भी बढ़कर यह कि, — “चन्द्रकांता पढ़ने के लिये ही न जाने कितने उर्दू जीवी लोगों ने हिंदी सीखी।”⁴⁴ हालत यह थी— “चन्द्रकांता पढ़ चुकने पर वे ‘चन्द्रकांता’ की किस्म की कोई किताब ढूँढ़ने में परेशान रहते थे।”⁴⁵ और तो और “चन्द्रकांता” और ‘चन्द्रकांता संतति’ पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक हो गये।”⁴⁶ यहाँ तक कि “चन्द्रकांता” पढ़कर वे हिंदी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले।”⁴⁷

प्रभाव लेखक समुदाय पर इतना गहरा पड़ा कि— ‘तिलिस्म’ और ‘ऐयारी’ के उपन्यासों की हिंदी में बहुत दिनों तक भरमार रही और शायद अभी तक यह शौक बिल्कुल ठंडा नहीं हुआ है।”⁴⁸ अर्थात् 1929 के आस-पास तक जब यह इतिहास लिखा जा रहा था। शुक्ल जी की दृष्टि में “बाबू देवकीनंदन के तिलिस्मी रास्ते पर चलनेवालों में बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष उल्लेख योग्य हैं।”⁴⁹

बाबू देवकीनंदन की हिंदी सेवा को शुक्ल जी ने अत्यंत महत्वपूर्ण समझा। इसीलिए एक बार फिर अपनी पूर्व मान्यता को प्लास्टर करते हैं—

“बाबू देवकीनंदन के संबंध में इतना और कह देना जरूरी है कि उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है जिसे थोड़ी हिंदी और थोड़ी उर्दू पढ़े लोग भी समझ लें। कुछ लोगों का यह समझना कि उन्होंने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली ‘आमफहम’ भाषा का बिल्कुल अनुसरण किया जो एकदम उर्दू की ओर झुक गयी थी, ठीक नहीं।”⁵⁰

अर्थात्—

“कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्यिक हिंदी न लिखकर ‘हिंदुस्तानी’ लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हल्की रचनाओं में काम दे सकती है।”⁵¹

बालकृष्ण भट्ट के उपन्यासों का पुस्तक-रूप में संस्करणों

की नौबत क्यों नहीं आयी? हरकृष्ण जौहर की कृतियाँ कहाँ हैं? और किशोरीलाल गोस्वामी की कृतियों के संस्करण क्यों नहीं हो रहे हैं? वे सब रॉयल्टी फ्री उपन्यास ही हैं। प्रकाशक उन पर क्यों नहीं पिल पड़ रहे हैं? उनसे भी कमाई क्यों नहीं करते? पाठक इस पर विचार करेंगे!

पाठक, इस बात की भी छान-बीन कर सकते हैं कि पं. किशोरी लाल गोस्वामी तो ऐसे कितने ही उपन्यासों के रचयिता हैं, जहाँ उनकी नायिकाएँ यौनाचार में भयानक रूप से लिप्त हैं। “स्तनों से जंघाओं तक” स्त्री को समेट देने के लिए उनकी ‘प्रशंसा’ भी हुई है। आज के हिसाब से तो उनकी कृतियों से बाजार पट जा सकता है। लेकिन हमें वे दिखायी नहीं देतीं। जबकि 1980 में देवकीनंदन के मोनोग्राफ को लिखते समय मधुरेश ने चन्द्रकांता संतति के 60वें संस्करण को अध्ययन का आधार बनाया था। 1985 तक आते-आते इसके 10 संस्करण और हुए। फिर सभी प्रकाशकों ने अपने-अपने संस्करण डालने आरंभ कर दिये। जब मैंने ‘चन्द्रकांता’ एवं ‘चन्द्रकांता संतति’ पर अपना लेख तैयार किया था तब मैंने 1986 में राजकमल प्रकाशन के लिए पहला 6 खण्डों वाला संस्करण तैयार किया था।⁵²

यह 5000 प्रतियों वाला था। उस समय मैं राजकमल प्रकाशन में ही काम कर रहा था। उपन्यास का वह पाठ कॉमा, फुलस्टाप तक मैंने तैयार किया था। आखिर अन्य सब तिलिस्मी कृतियाँ डूब गयीं, केवल ‘संतति’ तैरती रही है। क्या आप इस पर ईमानदारी से सोचना चाहेंगे? इसका ड्यू इसे देना चाहेंगे? इतिहास में आलोचकों द्वारा की गयी इसकी उपेक्षा की छानबीन करना चाहेंगे?

X X X X X X

मधुरेश ने जिस 60वें संस्करण की बात कही थी, “वह 1974 का 3100 प्रतियों वाला था।”⁵³ पुस्तिका के अंत में उन्होंने यह ध्यान दिलाया था—

“यह स्थिति भी अपने में पर्याप्त विरोधाभास पूर्ण लगती है कि जिस तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यास को नयी धारा के सूत्रपात के कारण उन्हें एक नये युग के प्रवर्तन का श्रेय मिलता है, उसी कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक देवकीनंदन खत्री की इन रचनाओं को साहित्यिक

रचनाओं की कोटि में रखने को भी वे तैयार नहीं थे।⁵⁴

मधुरेश ने यह पूछा है, या मूल्य निर्णय दिया है—

“देवकीनंदन खत्री की अपेक्षा शुक्ल जी ने किशोरी लाल गोस्वामी को कहीं अधिक वरीयता दी।”⁵⁵

लेकिन—

“शुक्ल जी का यह निर्णय क्या आज एकदम झूठा नहीं पड़ गया है?”⁵⁶

क्योंकि कसौटी तो यही कहती है—

“किशोरी लाल गोस्वामी और उनके दूसरे समकालीन लेखकों के, जिन्हें शुक्ल जी ने साहित्यिक कोटि में रखा है, कितने उपन्यास लोग पढ़ते हैं?”⁵⁷ जबकि “किसी व्यवस्थित प्रचार-प्रसार के बिना भी देवकीनंदन खत्री को आज भी लोग पढ़ते हैं।”⁵⁸

इस “आज” भी का अर्थ 1980 है।

भाषा की दृष्टि से मधुरेश का यह कथन संगत है कि, इससे क्या प्रमाणित होता है? यही कि, “देवकीनंदन खत्री, अपने युग के, उन बहुत थोड़े से लेखकों में से एक हैं, भाषा की दृष्टि से जिनकी रचनाएँ आज भी सुपाठ्य हैं।”⁵⁹

“पाठकों से अपने जीवन्त एवं आत्मीय संपर्क के मामले में तो उनके युग का कोई दूसरा लेखक उनके आगे कहीं ठहरता ही नहीं है।”⁶⁰

और उपन्यास ही वह विधा है जो अपने पाठकों से जीवन्त और आत्मीय संपर्क के अभाव में जी ही नहीं सकती।

सही कहते हैं, मधुरेश—

इसी सबके कारण ही कुछ लोगों की ओर से यह माँग उठायी जाती है कि भारतेंदु युग के अन्तर्गत सिर्फ तिलिस्मी-ऐयारी उपन्यास के प्रवर्तन कर्ता के रूप में देवकीनंदन खत्री के साथ न्याय नहीं किया जा सकता, बल्कि भारतेंदु युग के परवर्ती कुछ वर्षों को लेकर उन्हीं के नाम पर उस युग का नामकरण होना चाहिए, तो यह पूरी तरह से ठीक ही है।”⁶¹

क्योंकि—

“ऐसी कोई माँग भी उनके ऐतिहासिक संदर्भ को ठीक से प्रस्तुत करने की दिशा में एक कदम हो सकती है।...”⁶²

ऐतिहासिक संदर्भ को ठीक से प्रस्तुत करने में यह तथ्य

मददगार हो सकता है कि 1974 के 60वें संस्करण के बाद रॉयल्टी फ्री वाले संस्करणों के साथ 1988 की एक और प्रकाशन घटना रही काशी से “प्रचारक ग्रंथावली परियोजना” के तहत “देवकीनंदन समग्र”⁶³ का प्रकाशन। वह भी समय से समाप्त हुआ। बाजार में 2015 में 100 वर्ष पूरा करने के बाद भी चन्द्रकांता एवं चन्द्रकांता संतति शान से डटी हुई है। वाणी प्रकाशन-2015 में सूचीपत्र में ‘चन्द्रकांता’ उपन्यास का सजिल्द संस्करण 400/- का प्रदर्शित है। 100 वर्ष पूर्व के किसी अन्य हिंदी उपन्यास का ऐसा उदाहरण मेरे सामने नहीं है। आलोचना का विकास ऐसे ऐतिहासिक कदमों के इतिहास का ही दूसरा नाम है।

संदर्भ :

1. देखिए, ‘आलोचना’ : संपादक- नामवर सिंह, अंक- 76, जनवरी-मार्च 1986 में प्रकाशित प्रदीप सक्सेना का लेख, चंद्रकांता: यथार्थवाद के प्रथम उत्थान का महाकाव्य, पृष्ठ संख्या- 45-41
2. बाद में संकलित; भारत भारद्वाज और साधना अग्रवाल द्वारा संपादित ग्रंथ में: हमारे युग का खलनायक- राजेंद्र यादव, संस्करण 2005, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, पृ.- 412-446
3. रामचंद्र तिवारी: हिंदी का गद्य साहित्य, संस्करण- 2003, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ.- 157
4. देखिए, प्रदीप सक्सेना: तिलिस्मी साहित्य का साम्राज्यवाद-विरोधी चरित्र, संस्करण-2003, शिल्पायन दिल्ली, पत्र प्रतिलिपि आरंभिक पृष्ठ,
5. उपरोक्त
6. देखिए, परमानंद श्रीवास्तव की समीक्षा, शोध पत्रिका ‘वरिमा’ मानविकी और साहित्य, अंक-2 अक्टूबर-2011, पृ. 278
7. वही
8. मधुरेश : देवकीनंदन खत्री, साहित्य अकादमी का मोनोग्राफ- भारतीय साहित्य के निर्माता शृंखला, भूमिका- अंश
9. वही, भूमिका,
10. वही, भूमिका
11. देखिए, रमेश कुमार का लेख : हिंदी कथा-आलोचना की प्रथम कृति, गद्यकाव्य मीमांसा, ‘अभिनव भारती’ विशेषांक : ‘उपन्यास और प्रतिरोध : हिंदी विभाग, अ.मु.वि., अलीगढ़,

- 2006-07, पृ. 70
12. वही, पूर्वोद्धृत द्वारा रमेश कुमार, पृ. 71
13. वही, पृ. 71
14. वही, पृ. 71
15. वही, पृ. 71
16. वही, पृ. 73
17. वही, पृ. 73
18. देखिए, श्री नारायण अग्निहोत्री का लेख- 'उपन्यास शब्द का प्रयोग': हिंदी-उपन्यास: संपादक- सुषमा प्रियदर्शिनी, पृ. 9
19. वही, पृ. 9
20. वही, पृ. 9
21. वही, पृ. 10
22. वही, पृ. 10
23. वही, पृ. 10
24. पूर्वोद्धृत द्वारा नरेन्द्र कोहली: हिंदी उपन्यास-सृजन और सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2002, पृ. 7
25. वही, पृ. 7
26. वही, पृ. 7
27. वही, पृ. 7
28. देखिए, रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास': नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण-सं. 2029, भूमिका, पृ. 5
29. वही, पृ. 5
30. वही, पृ. 5
31. वही, पृ. 310
32. वही, पृ. 310
33. वही, पृ. 310
34. वही, पृ. 313
35. वही, पृ. 313
36. वही, पृ. 313
37. वही, पृ. 339
38. वही, पृ. 340
39. वही, पृ. 340
40. वही, पृ. 340
41. वही, पृ. 340
42. वही, पृ. 340
43. वही, पृ. 340
44. वही, पृ. 341
45. वही, पृ. 341
46. वही, पृ. 341
47. वही, पृ. 341
48. वही, पृ. 341
49. वही, पृ. 341
50. वही, पृ. 341
51. वही, पृ. 341
52. देखिए, राजकमल पेपरबैक्स में पहला संस्करण- 1986: उत्कृष्ट साहित्य के जनसुलभ संस्करण।
53. मधुरेश : देवकीनंदन खत्री, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण 1980 पृ. 68
54. वही, पृ. संख्या 68
55. वही, पृ. संख्या 68
56. वही, पृ. संख्या 68
57. वही, पृ. संख्या 68
58. वही, पृ. संख्या 68
59. वही, पृ. संख्या 68
60. वही, पृ. संख्या 68
61. वही, पृ. संख्या 68
62. वही, पृ. संख्या 68
63. देखिए, प्रचारक-ग्रंथावली परियोजना में: देवकीनंदन खत्री समग्र: संपादक- युगेश्वर 1988, वाराणसी, पृ. 1294

संपर्क :

हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़- 202002, मो. 09259017982

किसान समस्या, प्रेमचंद और जादुई यथार्थवाद

रविकांत

भारत की सड़सठ प्रतिशत आबादी खेती-किसानी पर निर्भर है। इतनी बड़ी आबादी आज घोर संकट में है। अतिवृष्टि और ओलावृष्टि के कारण फसल चौपट हो गई है। किसान आत्महत्या कर रहे हैं। किसानों की बेबसी का जमकर राजनीतिकरण हुआ है। कोई किसान की आत्महत्या का तमाशा बना रहा है। कोई इसे कायरता कह रहा है। इन हालातों में कथाकार प्रेमचंद की याद आना स्वाभाविक है। प्रेमचंद केवल हिंदी के ही नहीं बल्कि सभी भारतीय भाषाओं में अभिव्यक्त किसान-जीवन के सबसे बड़े लेखक हैं। अपने दर्जन भर उपन्यासों और तीन सौ से अधिक कहानियों में उन्होंने किसानों का बहुत मार्मिक चित्रण किया है। परिणाम के हिसाब से यद्यपि प्रेमचंद ने किसानों पर अपेक्षाकृत कम कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। प्रेमचंद के यहां गांव के साथ-साथ शहर का जीवन भी बखूबी चित्रित है। उनके यहाँ शहरी जीवन का यथार्थ अपनी तमाम खूबियों-विसंगतियों के साथ मौजूद है। पूँजीपति, दलाल, रईस, वकील, संपादक, अध्यापक से लेकर राजनीतिक कार्यकर्ता, संघर्षशील पढ़े-लिखे युवा और मजदूर आदि विभिन्न चरित्र उनके कथा साहित्य में उपस्थित हैं। प्रेमचंद के गांवों में भी किसान के साथ-साथ जमींदार महाजन, पण्डे, पुरोहित, मुस्लिम, स्त्री, दलित आदि पात्र विद्यमान हैं। इसी वैविध्य को ध्यान में रखते हुए हंसराज रहबर ने प्रेमचंद को स्वाधीनता आंदोलन का लेखक कहा है। अलबत्ता, उनके लेखन के केन्द्र में किसान और उसका जीवन ही है। प्रेमचंद ने बेहद तल्लीनता और रागात्मकता के साथ गांवों के किसान और उसके परिवार को चित्रित किया है। यह चित्रात्मक शैली अन्य प्रसंगों में उतनी जीवंत नहीं दिखाई देती। इसीलिए ज्यादातर आलोचक प्रेमचंद को गांवों और किसानों का लेखक मानते हैं।

किसान जीवन के सबसे बड़े रचनाकार के रूप में प्रेमचंद हमें बार-बार याद आते हैं। इसका एक कारण और भी है। उनके कथा-साहित्य के अन्य पात्र और समुदाय आज पहले से बेहतर स्थिति में हैं। स्त्री और दलित समुदाय आज स्वयं साहित्यिक रूप से अपना प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श आज साहित्य के केन्द्र में हैं। स्वाधीनता प्राप्ति और संविधान लागू होने के बाद इन समुदायों को विभिन्न अवसर प्राप्त हुए। इनका आर्थिक उत्थान हुआ। इनमें राजनीतिक सजगता और चेतना पैदा हुई। राजनैतिक चेतना और नेतृत्व प्राप्त होने के कारण इन समुदायों की आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति पहले से बेहतर हुई। दुर्भाग्य से स्वाधीन भारत में किसानों की कोई नुमाइन्दगी नहीं रही। लगातार किसानों को हाशिए पर धकेला जाता रहा। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी उनके हालात बद से बदतर होते गए। औपनिवेशिक भारत से भी कठिन परिस्थितियों का सामना आज भारतीय किसान कर रहा है। औपनिवेशिक भारत का किसान प्राणप्रण से किसानों की रक्षा करता था। फिर भी वह मजदूर बनने के लिए अभिशप्त था। आज किसान स्वेच्छा से खेती छोड़ना चाहता है, लेकिन उसके पास मजदूरी का विकल्प भी नहीं। वह ऋण लेकर खेती करता है। मोटे ब्याज पर साहूकार-महाजन से लिए गए ऋण को चुकाने में खुद को असमर्थ पाता है तो मजबूरन वह आत्महत्या कर लेता है।

प्रेमचंद के कथा साहित्य के दो जीवन्त पात्रों हल्कू (पूस की रात) और होरी (गोदान) के माध्यम से औपनिवेशिक भारत की कृषि व्यवस्था और कृषक जीवन को समझा जा सकता है। खेती, किसान की जीविका का साधन तो है ही उसकी मरजाद भी है। लेकिन जब मरजाद (मर्यादा) बिखर जाए तो ऐसी खेती से क्या हासिल होगा? जानवरों द्वारा बर्बाद की गई खेती को देखकर हल्कू हौले से मुस्कुराता है और सोचता है कि अब यहाँ ठंड में सोना तो न पड़ेगा। वह मजदूरी करके गुजारा कर लेगा। इसी कहानी को प्रेमचंद बड़े फलक पर 'गोदान'

(1935) में प्रस्तुत करते हैं। गोदान में प्रेमचंद किसान जीवन और उसकी समस्या को सम्पूर्णता में चित्रित करते हैं। उसके वर्तमान की बारीक सच्चाईयों के साथ-साथ प्रेमचंद किसान और उसके परिवार के जीवन के भविष्य का भी संकेत करते हैं। गोदान के होरी की समस्या केवल ऋणग्रस्तता नहीं है, जैसा कि 'प्रेमचंद और उनका युग' में रामविलास शर्मा मानते हैं। वास्तव में भारतीय समाज की ब्राह्मणवादी-कर्मकाण्डी व्यवस्था और जमींदार-साहूकार तथा नये उभरते हुए पूँजीपति वर्ग का गठजोड़, किसान जीवन की त्रासदी के लिए उत्तरदायी हैं। यह समूचा तंत्र जाँक की तरह किसान के जीवन को चूसता है। हल्कू खेती छोड़ने के बारे में सोचकर हौले से मुस्कराता है किंतु खेती के बेदखली के बाद या चले जाने के बाद होरी के चेहरे पर स्थायी विषाद का भाव चस्पा हो जाता है। वह मजदूरी के लिए विवश है। अंततः भूखे पेट सड़क पर गिट्टी ढोते हुए होरी दर्दनाक मौत मरता है। वास्तव में यह होरी की मौत नहीं बल्कि हत्या है। ऐसी हत्या जिसके गुनहगार रात-दिन तरक्की कर रहे हैं। खूब फल-फूल रहे हैं। अस्सी वर्षों के बाद भी किसानों के हालात नहीं बदले। उनके जीवन की त्रासदी बदस्तूर जारी है। आज हजारों होरी आत्महत्या कर रहे हैं। जनाब! ये आत्महत्याएँ नहीं, हत्याएँ हैं। मर्डर और सौ फीसदी मर्डर! यानी पूँजीवादी सत्तातंत्र इन हत्याओं का गुनहगार है।

आज के हालातों में हल्कू और होरी से ज्यादा 'बलिदान' कहानी के गिरधारी की याद आती है। 'बलिदान' कहानी का यथार्थ 'पूस की रात' और 'गोदान' के यथार्थ से एकदम अलग है। यह जितना मार्मिक है, उतना ही कलात्मक भी। 'बलिदान' का यथार्थ अधिक लोकधर्मी और सारगर्भी है। किसान जीवन से संबंधित 'बलिदान' प्रेमचंद की कम चर्चित कहानी है। आज इस कहानी पर व्यापक चर्चा करने की आवश्यकता है। साथ ही इस बात की खोजबीन करना भी जरूरी है कि आलोचकों ने इस कहानी की अनदेखी क्यों की है। दरअसल 'बलिदान' कहानी आलोचना के मान्य सिद्धान्तों और विचारधारात्मक मानदंडों पर खरी नहीं उतरती।

कहानी में अलौकिक या अतिप्राकृतिक तत्वों का समावेश

है। संभवतः यही कारण है के खासकर मार्क्सवादी आलोचकों ने इस कहानी को तवज्जो नहीं दी है। कहानी 'गिरधारी' नाम के एक किसान की है। पिता 'हरखू' के मौत के बाद जब वह जमींदार 'ओंकारनाथ' को पेशगी और नजराना नहीं दे पाता तो उसके पांच बीघा खेत नीलाम हो जाते हैं। उसके ऊपर महाजन का तीस रुपया कर्जा था। मजबूरन उसे कम दामों पर अपने बैल बेचकर कर्जा चुकाना पड़ा। गिरधारी इस सदमे से उबर नहीं पाता और खेत की मेड़ पर स्थित कुएँ में कूदकर आत्महत्या कर लेता है। अब कोई भी उसके खेत को जोत-बो नहीं पाता क्योंकि रोज रात को गिरधारी कुएँ से निकलकर खेत के चक्कर लगाता है और रोता है। गिरधारी के भूत के डर से कालिकादीन ने जमींदार को खेत वापस कर दिए हैं। ओंकारनाथ खेत उठाना चाहते हैं लेकिन कोई किसान खेत लेने के लिए तैयार नहीं होता।

गिरधारी के मरने के बाद उसका बड़ा लड़का शहर में ईंट के भट्टे पर काम करता है। प्रतिमाह बीस रुपये घर लाता है। जौ की जगह गेहूँ खाया जाता है। फिर भी गिरधारी की पत्नी गांव में दुबकी-छिपती फिरती है। अब उसकी कोई इज्जत मर्यादा नहीं है। उसके पास खेत नहीं है। उसका बेटा मजदूरी करता है छोटे किसानों के लिए खेती न तब पुसाने लायक थी और न अब है।

गिरधारी का भूत रोज रात में खेत की मेड़ के चक्कर लगाता है। अब कोई उसके खेत में हल नहीं जोत पाता। कहानी की इस अलौकिकता की कैसे व्याख्या की जाए? क्या प्रेमचंद अंधविश्वासी थे? क्या प्रेमचंद नये तरह से गांधीवाद को प्रस्तुत कर रहे थे? गिरधारी के खेत पर चक्कर लगाने को क्या एक किसान के सत्याग्रह के रूप में देखना चाहिए? लेकिन भला कोई भूत के सत्याग्रह पर कैसे विश्वास करे। एक सवाल यह भी पूछा जा सकता है कि भूत-प्रेत की कहानी लिखकर कहीं प्रेमचंद समाज में अंधविश्वास तो नहीं पोषित कर रहे थे। अगर ऐसा है तो प्रेमचंद को बड़ा लेखक कैसे माना जा सकता है? एक बात और, 'बलिदान' कोई अकेली कहानी नहीं है जिसमें प्रेमचंद भूत-प्रेत जैसी अलौकिक शक्तियों को चित्रित कर रहे हैं। 'विध्वंस' और 'भूत' कहानियों में भी चमत्कारपूर्ण

दैवीय घटनाएँ होती हैं।

प्रेमचंद हिंदी साहित्य के सामाजिक यथार्थवादी लेखक हैं। उनके कथासाहित्य में संवेदना और शिल्प दोनों स्तरों पर यथार्थवाद को देखा जा सकता है। उपरोक्त कहानियों में प्रेमचंद ने भूत-प्रेत आदि अलौकिक शक्तियों का वर्णन किया है। यह किस किस्म का यथार्थवाद है? क्या उन्होंने यथार्थवाद को छोड़ दिया था? इसका सटीक उत्तर तभी दिया जा सकता है, जब हम प्रेमचंद की कहानियों का विश्लेषण बहुत सजग और सचेत होकर करें। दरअसल, इन कहानियों में एक अलग किस्म का यथार्थवाद है। यह, वह यथार्थवाद है जिसे उन्नीस सौ पचास (1950) के बाद द. अमेरिकी उपन्यासों के संदर्भ में 'जादुई यथार्थवाद' कहा गया। प्रेमचंद, जादुई यथार्थवाद के माध्यम से भारतीय समाज के उस सच को व्यक्त करना चाहते थे जिसे सीधे प्रस्तुत करना मुश्किल था।

'जादुई यथार्थवाद' शब्द सबसे पहले लैटिन अमेरिकी उपन्यासों के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है। 'सौ सालों का एकान्त' नामक मार्क्वेज के उपन्यास के संदर्भ में जादुई यथार्थवाद पर गंभीरता पूर्वक विचार किया गया। मार्क्वेज, लूशुन, कारपेंतियर, जार्ज अमादो, जोस मेरिया, अर्गुंदस, जुआन रूफो, कार्लोस फुएत, रावबस्तोस आदि लेखकों-विचारकों के साहित्य में जादुई यथार्थवाद प्रस्तुत हुआ है। जादुई यथार्थवाद का संबंध सामान्य जीवन से है। मार्क्वेज लिखते हैं कि 'निजन्धरी कथाएँ, मिथकीय चरित्र तथा भूत-प्रेतादि दैवीय शक्तियों के चमत्कारों के किस्से हमारे जीवन के हिस्से हैं। हमने अपनी दादी से सुने हैं। दरअसल जब जीवन में वास्तविकता और भ्रम का अंतर समाप्त हो जाता है तो ऐसे प्रसंगों का चित्रण होना स्वाभाविक है।' लैटिन अमेरिकी देशों में उपनिवेशवाद के बाद तानाशाहों का जो शासन रहा उसमें भ्रम और वास्तविकता का अंतर खत्म हो गया। ऐसी विसंगत परिस्थितियों को बेपर्दा करने के लिए इन लेखकों ने जादुई यथार्थवाद की शैली का सहारा लिया।

जब सच कहना असंभव किन्तु अनिवार्य हो तो वहाँ जादुई यथार्थवादी शैली का प्रयोग सबसे सार्थक होता है। हिंदी साहित्य में इसका प्रयोग हुआ है। लेकिन आलोचना

में जादुई यथार्थवाद को लगभग अछूत मान लिया गया है। मार्क्सवादी लेखकों में केवल मैनेजर पांडेय हैं जिन्होंने जादुई यथार्थवाद पर एक लंबा लेख लिखा है। उन्होंने मुक्तिबोध के फैण्टेसी शिल्प में अभिव्यक्त जादुई यथार्थवाद की ओर संकेत किया है। राजस्थान के प्रसिद्ध कहानीकार विजयदान देथा और हिंदी कथाकार उदय प्रकाश के संदर्भ में भी जादुई यथार्थवाद की चर्चा होती है।

गिरिराज किराडू ने देथा की कहानियों में प्रस्तुत जादुई यथार्थवाद की खोज की है। उदय प्रकाश, लुशून और मार्क्वेज के जादुई यथार्थवाद को हजारि प्रसाद द्विवेदी की गल्प शैली में पाते हैं। उनका मानना है कि इस शैली की प्रेरणा उन्हें द्विवेदी जी से मिली।

जादुई यथार्थवाद, यथार्थवाद का ही एक प्रकार है। एक विशेष शैली है। इसमें इतिहास, मिथक, फैण्टेसी, यूटोपिया, जादू-टोना, परिकथाएँ, दैवीय शक्तियों, शगुन-अशगुन, शाप-वरदान, निजन्धरी कथाएँ, अद्भुत घटनाओं और पूर्वाभास आदि तत्त्वों-प्रसंगों का प्रयोग होता है। यह अद्भुत और यथार्थ का मेल है। यह यथार्थ को मिथकीय दृष्टि से प्रस्तुत करने की एक शैली है। यह कला और यथार्थ के समन्वय की महत्त्वपूर्ण शैली है। दूसरे शब्दों में जादुई यथार्थवाद, यथार्थवाद का सर्वाधिक कलात्मक रूप है। औपनिवेशिक भारत में ऐसी राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उपस्थित थीं जिनसे जादुई यथार्थ की प्रस्तुति संभव हुई। मैनेजर पाण्डेय मानते हैं कि भारत में आदिवासियों और किसानों के जीवन में वे अधिकांश बातें मौजूद हैं जिनसे जादुई यथार्थ जुड़ा हुआ है। प्रेमचंद औपनिवेशिक भारत में किसान जीवन के यथार्थ को इस शैली में प्रस्तुत करते हैं। 'बलिदान' कहानी में गिरधारी के अपने खेतों से अत्यधिक लगाव, किसानों की मर्यादा और उसकी जीविका के परस्पर जुड़ाव के घनीभूत यथार्थ को प्रेमचंद प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए गिरधारी का भूत खेतों का चक्कर लगाता है। ऐसे अलौकिक और अतिप्राकृतिक संदर्भ प्रेमचंद को जादुई यथार्थवाद का लेखक मानते हैं। चुनांचे, प्रेमचंद हिंदी के ही नहीं बल्कि किसी भी भाषा के पहले जादुई यथार्थवादी लेखक हैं।

संपर्क : 24, मलिनी पार्क, लखनऊ विश्वविद्यालय परिसर, लखनऊ- 226007, मो. 09451945847

हिन्दी की पहली कहानी 'इंदुमती'

डॉ. पुनीत कुमार राय

हिन्दी की पहली कहानी किसे माना जाए? इसे लेकर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है। पहली कहानी के रूप में 'इंदुमती' (सन् 1900, किशोरी लाल गोस्वामी), 'एक टोकरी भर मिट्टी' (सन् 1901, माधव राव सप्रे), 'एक जमींदार का वृत्तांत' (सन् 1871, रेवरेण्ड जे. न्यूटन), 'प्रणयिनी परिणय' (सन् 1887, किशोरी लाल गोस्वामी), 'सुभाषित रत्न' (सन् 1900, माधव राव सप्रे), 'मन की चंचलता' (1900, माधव प्रसाद मिश्र), 'प्लेग की चुड़ैल' (1902, भगवान दास), 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903, रामचंद्र शुक्ल), 'दुलाईवाली' (1907, बंग महिला), 'राखीबंद भाई' (1907, वृंदावन लाल वर्मा), 'ग्राम' (1911, जयशंकर प्रसाद), 'सुखमय जीवन' (1911, चंद्रधर शर्मा गुलेरी), 'रक्षाबंधन' (1913, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक'), 'उसने कहा था' (1915, चंद्रधर शर्मा गुलेरी) – की चर्चा होती है। आचार्य शुक्ल ने किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'इंदुमती' को हिंदी की पहली मौलिक कहानी माना है, उनका कहना है – 'यदि 'इंदुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ. 335) कालांतर में यह पता चला कि 'इंदुमती' पर एक बंगला कहानी के साथ शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' का भी प्रभाव है। फलतः 'इंदुमती' को पहली कहानी के रूप में खारिज कर दिया गया। आज विद्वानों का एक बड़ा वर्ग 'एक टोकरी भर मिट्टी' को हिंदी की पहली मौलिक कहानी के रूप में स्वीकारता है। खैर, 'इंदुमती' की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न होने के बावजूद इस कहानी का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है। 113 साल पुरानी यह कहानी, जो कभी पहली कहानी के रूप में चर्चित रही है – इसका अनुशीलन आज के पाठकों के लिए निस्संदेह मौजूं रहेगा।

'इंदुमती' की कथा कुछ इस प्रकार है – सोलह साल की किशोरी इंदुमती अपने बूढ़े पिता के साथ विंध्याचल के घने जंगलों में रहती है। इंदुमती के पिता कभी देवगढ़ के राजा हुआ करते थे। इंदुमती जब चार वर्ष की थी तब इब्राहिम लोदी ने देवगढ़ को घेर लिया और राजा के पास दूत भेजकर कहलवाया कि या तो अपनी पत्नी (इंदुमती की माँ) को भेज दो या जंग करो। राजा ने लोदी के शर्त को अस्वीकार कर दिया, फलतः लोदी ने नगर को तहस-नहस कर दिया। रानी ने आत्महत्या कर ली और राजा को इंदुमती को साथ लेकर अपने कुछ विश्वस्त

सरदारों-सेवकों के साथ दुर्गम जंगलों में शरण लेनी पड़ी। इब्राहिम से प्रतिशोध ही उनके जीवन का लक्ष्य है, उन्होंने प्रतिज्ञा कर रखी है कि इंदुमती का विवाह उसी से करेंगे जो इब्राहिम का वध करेगा। इब्राहिम से अपना प्रतिशोध लेने के लिए राजा ने राजस्थान के सारे राजाओं से सहायता मांगी, किंतु किसी ने उनकी सहायता नहीं की, उल्टे इंदुमती के विवाह संबंधी उनके शर्त को सुनकर उन्हें पागल समझकर हँसी उड़ाया। सोलहवें वर्ष में प्रवेश कर चुकी इंदुमती का विवाह राजा के लिए चिंता का विषय हुआ है। जंगल में रहते हुए इंदुमती का अपने पिता अलावा कभी किसी अन्य पुरुष से साक्षात्कार नहीं हुआ है। बूढ़े राजा के साथी अदृश्य ही रहते हैं। एक दिन अचानक नदी किनारे टहलते हुए इंदुमती का रास्ता भटक गए चंद्रशेखर से भेंट होती है। एक दूसरे के दैवीय आभा से युक्त सौन्दर्य को देखकर दोनों के हृदय में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। पहले तो इंदुमती के बूढ़े पिता चंद्रशेखर के साथ कठोरता से पेश आते हैं किंतु जब उन्हें ज्ञात होता है कि यह नवयुवक अजयगढ़ का राजकुमार है, जिसने अपने पिता के हत्यारे लोदी का वध किया है, लोदी के सेनापति द्वारा पीछा करने पर वह भटककर इस जंगल में आ गया है, तब वह उनके प्रेम की परीक्षा लेकर दोनों का विवाह कर देते हैं। चंद्रशेखर के साथ इंदुमती को विदा कर वह बूढ़ा राजा हिमालय की ओर चल देता है। कहानी में एक तरफ इंदुमती-चंद्रशेखर का निर्मल-निश्छल प्रेम है तो दूसरी तरफ परिस्थितियों के मारे, पुत्री के विवाह की चिंता में घुलते, प्रतिशोध की आग में धधकते बूढ़े राजा की कठोरता। कहानी का अंत सुखांत है। इंदुमती-चंद्रशेखर का प्रेम परिणय में परिणत हो जाता है और बूढ़े राजा की प्रतिज्ञा-प्रतिशोध भी पूर्ण होता है। इंदुमती-चंद्रशेखर का प्रेम आदर्शवादी प्रेम है जिसमें प्रिय के हित में अपने प्राणों को न्योछावर कर देने की भावना है। यह प्रेम आकर्षण जन्य है, त्याग और साहस से भरा-पूरा। कहानी सामंती जीवन मूल्यों पर आधारित है। स्वामीभक्ति और प्रतिशोध इन दो सामंती मूल्यों को यहाँ बखूबी दिखलाया गया है। पहली बार

इंदुमती-चंद्रशेखर को साथ देखकर बूढ़े राजा का क्रोधित होना भी एक सामान्य सामंती प्रवृत्ति है। सामंती समाज में लड़की के प्रति अतिरिक्त पहरेदारी बरती जाती है, उसका पराए पुरुष के साथ मेल-जोल प्रतिबंधित रहता है। इस सामंती मानसिकता को बूढ़े के चरित्र में सहज ही देखा जा सकता है। धार्मिकता और कठोरता ये दो भिन्न प्रवृत्तियाँ सामंती जीवन में किस तरह एक साथ विद्यमान रहती हैं। कहानी में इसे भी दिखलाया गया है- 'ध्यान रखो यदि जरा भी मेरी आज्ञा टाली तो समझ लेना कि तुम्हारे धड़ पर विधाता ने सिर बनाया ही नहीं और इंदुमती! तू भी कान खोलकर सुन ले। इस युवक के साथ यदि किसी तरह की भी बातचीत करेगी तो तेरी भी वही दशा होगी।' इतना कहकर बूढ़ा कुटी के भीतर चला गया और फिर उसी गीता की पुस्तक को ले पढ़ने लगा'' (इंदुमती-सरस्वती की प्रारंभिक कहानिया: परिवेश एवं कलेवर, संपादक, पुनीत कुमार राय, पृ. 4) इस प्रकार यह कहानी अपने विजन में पारंपरिक सामंती मूल्यों की ही पोषक है, इसमें किसी नवीन चेतना या वैचारिकता का संस्पर्श नहीं है।

घटनाबहुल न होकर कहानी भावप्रवण है। आकर्षण, प्रेम, कठोरता, प्रतिशोध जैसे भावों से कहानी का ताना-बाना बुना गया है। किंतु यहाँ अंतर्जगत के भावों का सूक्ष्म और द्विधात्मक चित्रण नहीं है, कहानी सपाट ढंग से आगे बढ़ती है। हिंदी की प्रारंभिक कहानी से भाव सघनता, घटना एवं चरित्र के द्विधात्मक विन्यास की अपेक्षा करना उचित भी नहीं है। अपनी कई सीमाओं और अनगढ़ता के बावजूद कहानी में कथारस मौजूद है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित इस कहानी में इतिहास तथ्यपरक न होकर कल्पित है। इतिहासबोध लेखक का उद्देश्य भी नहीं है। इतिहास तो यहाँ एक झीने पृष्ठभूमि की तरह है, असल में तो यह एक प्रेम कहानी है, प्रारंभिक प्रतिकूलताओं-बाधाओं के बाद सुखद परिणति तक पहुँची प्रेम कहानी। कुतूहल, रहस्य संयोग के तत्त्वों से निर्मित यह औपन्यासिक ढंग की एक आदर्शवादी कहानी है।

संपर्क:

शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, ति.- बलरामपुर (छ.ग.), मो. 9532102427

योंम-ए-आजादी की तैयारी के आल का कथा अंदर्भ: 'अमृतसर आ गया है'

मृत्युंजय पाण्डेय

“छूत की बीमारियाँ यों कई हैं, पर डर- जैसी कोई नहीं। इसलिए और भी अधिक कि वह स्वयं कोई ऐसी बीमारी है भी नहीं- डर किसने नहीं जाना?- और मरती है तो स्वयं नहीं, दूसरी बीमारियों के जरिए। कह लीजिए कि वह बला नहीं, बलाओं की माँ है... नहीं तो यह कैसे होता है कि जहाँ डर आता है, वहाँ तुरंत घृणा और द्वेष और कमीनापन आ घुसते हैं, और उनके पीछे-पीछे न जाने मानवात्मा की कौन-कौन सी दबी हुई व्याधियाँ!” -अज्ञेय

भीष्म साहनी की चर्चित कहानी ‘अमृतसर आ गया है’ कि घटना जुलाई 1947 का अंतिम सप्ताह या अगस्त का पहला सप्ताह है, जब हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और पाकिस्तान की स्थापना के लिए 15 अगस्त 1947 की तारीख निश्चित की गयी थी। कुछ लोगों में पाकिस्तान की स्थापना का जोश था तो कुछ में हिंदुस्तान की आजादी का। “वातावरण के इस झुटपुटे में आजादी की सुनहली धूल-सी उड़ रही थी और साथ ही अनिश्चय भी डोल रहा था और इसी अनिश्चय की स्थिति में किसी-किसी वक्त भावी रिश्तों की रूपरेखा झलक दे जाती थी।” अनिश्चय की इस स्थिति में भीष्म साहनी हिंदुओं, सिक्खों और पठानों की आपसी रिश्तें, दहशत, डर, दुश्मनी, घृणा, द्वेष तथा हत्यारी मनोवृत्ति और कमीनेपन की कथा कहते हैं।

‘ऐतिहासिक त्रास और उपद्रव’ की विभीषिका में लोग अपने मनोरम एवं पसंदीदा स्थानों एवं लोगों को छोड़कर “एक नये देश के तपते हुए मैदानों की कल्पना दिल में संजोये बिन बुलाये बादल के समान वहाँ से विदा हो रहे थे।” भविष्य की रूप रेखा से बेखबर, दुःख एवं शोक के भार से लदे हुए, खौफ के साये में वे अनगिनत प्रहार एवं जख्म झेलते हुए आगे बढ़ रहे थे।

‘अमृतसर आ गया है’ कहानी भारत के अतीत की कथा है। यद्यपि वह समय बीत चुका है, झुटपुटा छट चुका है, पर- “ज्यों-ज्यों भविष्य के पट खुलते जाते हैं, यह झुटपुटा और भी गहराता चला जाता है।” कहानी इंसानीयत से शुरू होकर हैवानियत की अंतिम सीढ़ी तक पहुँचती है। संभवतः गाड़ी पेशावर से छुटी थी दिल्ली के लिए, लेकिन कहानी जेलहम से शुरू होकर वजीराबाद होते हुए अमृतसर तक पहुँचती है। थोड़ा स्पष्ट करें तो कहानी हंसी-मजाक से शुरू होकर डर, घृणा, द्वेष तथा नफरत से गुजरते हुए कमीनापन तक का सफर तय करती है।

सफर शुरू होने से लेकर वजीराबाद तक सभी यात्री मुसाफिर ही थे। उनमें न कोई हिन्दू था न मुसलमान। उनका सफर गप-शप, हंसी-मजाक एवं ठहाकों के बीच सरक रहा था। लेकिन ‘वजीराबाद’ की एक छोटी-सी घटना के बाद सब-कुछ बदल जाता है। शहर के नाम के साथ लोगों के मन का भाव, उनका व्यवहार तथा उनकी मानसिकता भी बदल जाती है। ‘वजीराबाद’ में दंगा पीड़ित कोई मुसाफिर डिब्बे में घुसना चाहता है। पर डिब्बे के सभी मुसाफिर उसका पुरजोर विरोध करते हैं। डिब्बे के बाहर का मुसाफिर डिब्बे के भीतर का नागरिक बनने की पूरी कोशिश करता है। वह कहता है- “लाचारी है, शहर में दंगा हो गया है। बड़ी मुश्किल से स्टेशन तक पहुँचा हूँ।” दंगे की बात सुन सभी यात्री चुप हो जाते हैं, पर पठान जो अब तक चुप बैठा था उचककर बैठ गया और ‘आव देखा न ताव’ उसे एक लात मार दी। इसके बाद भी वह बिना उलझे डिब्बे की दुनिया का निवासी बनने की कोशिश करता रहा। उसकी सहन-शीलता देखकर पठान के एक दूसरे साथी की सहन-शीलता चुक जाती है। वह चिल्लाते हुए मुसाफिर का संदूक गेट से बाहर फेंक

देता है। उस वक्त बुढ़िया को छोड़ डिब्बे का कोई भी मुसाफिर उनके खिलाफ एक शब्द नहीं बोलता है। लाभ के दिनों में वर्मा की लड़ाई में भाग ले चुके सरदारजी भी चुप्पी साधे रहते हैं। लेखक भी चुप बैठा रहता है और दुबले-पतले बाबू की कुछ खबर ही नहीं लगती। अंततः लाख कोशिश के बावजूद भी नया मुसाफिर डिब्बे की दुनिया का नागरिक नहीं बन पाता। ठीक यहीं स्थिति विभाजन के बाद शरणार्थियों के साथ हुई। वे जहां भी गये, जिस जगह गए, वहां उन्हें तिरस्कृत एवं बहिष्कृत ही किया गया। उन्हें अछूत समझा गया। आगे बढ़कर किसी ने भी उनका स्वागत नहीं किया। उन्हें जीवन के कठोर सत्य को गहरे ज़ख्म के साथ कबूल करना पड़ा। नयी जगह में नये लोगों ने उन्हें हमेशा शंका एवं अविश्वास भरी दृष्टि से ही देखा। वजीराबाद वाली घटना के संदर्भ में अज्ञेय की यह बात बिल्कुल ठीक लगती है कि- “दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है। भलाई की सहनशीलता ही बड़ी बुराई है। घने बादल से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है।” कहने का तात्पर्य यह है कि यदि डिब्बे के सभी यात्री पठान का विरोध करते तो उसकी इतनी हिम्मत नहीं होती कि वह एक दंगा पीड़ित मुसाफिर को लात मारे तथा उसका सामान उतारकर नीचे फेंके। मुसाफिर का सफर ट्रेन से उतरने के साथ ही थम जाता है। संभावना यह भी थी कि बाद में वह दंगाई लोगों के वधशीपन का शिकार हो गया है। उसकी सोलह-सत्तरह वर्ष की लड़की किसी के वासना का शिकार हो चुकी हो। प्रश्न यह है कि इन सबके लिए जिम्मेदार कौन है? वह पठान जिसने लात मारी या वे लोग जो सभ्य होने का लबादा ओढ़े चुपचाप बैठे रहे?

कहानी की राह से गुजरे तो वजीराबाद मुस्लिम इलाका था, इसलिए डिब्बे के सभी हिंदू-सिक्ख शंकित हो जाते हैं। उनकी चुप्पी पहले से ज्यादा गहरी हो जाती है। वे अपने आप को असुरक्षित महसूस करते हैं। इसी असुरक्षाबोध के कारण वे “अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों” का जायजा लेना शुरू कर देते हैं। “सभी मुसाफिर की आँखें पहले से ज्यादा खुली-खुली ज्यादा शंकित-सी” हो जाती हैं। अब डिब्बे के सभी यात्री मुसाफिर न रहकर

हिंदू-मुसलमान हो जाते हैं। सभी एक-दूसरे को संदेह एवं शक ही दृष्टि से देखना शुरू कर देते हैं। जो विभाजन पहले बाहरी वातावरण में था अब वह डिब्बे के भीतरी वातावरण में भी शुरू हो चुका था। वजीराबाद से लेकर हरवंशपुरा तक सभी हिंदू-सिक्ख मुसाफिर बोझिल-अनिश्चित वातावरण में अपना सफर तय करते हैं। ज्यों-ज्यों रात गहरी होती जाती, त्यों-त्यों मुसाफिर और अधिक स्तब्ध और अधिक शंकित हो उठते थे। और गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ते ही ‘डिब्बे के अंदर का सन्नाटा और भी गहरा हो उठता’ था।

बोझिल-अनिश्चित और सन्नाटा भरे वातावरण में बाबू के मन में कुछ चल रहा था। शायद उसके अंदर का जानवर जाग रहा था। उसके अंदर का हिंदुत्व उसके मनुष्यत्व को मारकर बाहर आ रहा था। जिस प्रकार चांदनी की रोशनी में ‘बाहर की दुनिया और भी अनिश्चित और भी अधिक रहस्यमयी’ लग रही थी, उसी प्रकार डिब्बे के काले अंधेरे में बाबू भी किसी निश्चित डगर पर पहुंचकर रहस्यमयी हो चुका था। गाड़ी के बाहर नगर जल रहा था और गाड़ी के अंदर इंसानियत, मनुष्यता।

भौगोलिक स्थिति बदलते ही परिस्थिति भी बदल जाती है। वजीराबाद में बाबू के कंठ में सूख चुकी उसकी हाजिर-जवाबी अमृतसर के साथ ही पठानों की मां की गालियों के रूप में फूट पड़ती है। वह कहता है- “नीचे उतर, तेरी मैं... हिंदू औरत को लात मारता है, हरामजादे, तेरी उस पठान बनाने वाली की मैं...” कुछ समय पहले पीला पड़ा हुआ उसका चेहरा अब आग की तरह तप रहा था। उसका अमृतसर आने के साथ ही उसके अंदर का जानवर पूरी तरह से जग उठता है। वह अमृतसर स्टेशन से पठानों को मारने के लिए एक लोहे की छड़ उठा लाता है, लेकिन तब तक पठान अपने अन्य साथियों के साथ दूसरे डिब्बे में जा चुका था। पठान को न पाकर बाबू गुस्से में कांपते हुए मुसाफिरों से कहता है- “तुमने उसे जाने क्यों दिया? तुम सब नामर्द हो, बुजदिल!” वजीराबाद में खुद ‘नामर्द’ एवं ‘बुजदिल’ बना बाबू अमृतसर में मर्द एवं जिगर वाला बन जाता है। हिंदू बहुल इलाके में पहुंचते ही वह ‘बड़े जीवट वाला’ तथा ‘बड़ा गुर्दा वाला’ हो जाता है। उत्तेजना उसके अंदर

हिलोरे मारने लगती है। उसके अंदर का हिंदुत्व उसे धिक्कारने लगता है। पठान की तरह बाबू भी अपने घर में शेर बन जाता है। वैसे कहा जाता है कि अपनी गली में कुत्ता भी शेर होता है। पठान को न पाकर बाबू के अंदर का गुस्सा, द्वेष, घृणा और कुंठा बढ़ता ही चला जाता है। उसके नफरत और वहशीपन का शिकार बनता है एक निर्दोष मुसलमान। अमृतसर स्टेशन के बाद वह चलती ट्रेन में लोहे की छड़ से अल्लाह के एक नेक गरीब बंदे पर भरपूर वार करता है। अल्लाह का वह बंदा अधखुली आँखों से बाबू की ओर देखते हुए यह समझने की कोशिश करता है कि “वह कौन है और उससे किस अदावत का बदला ले रहा है।” भय और आतंक के बीच अनिश्चित भविष्य की तरफ बढ़ने वाले दंगा पीड़ित उस मुसलमान मुसाफिर का सफर बाबू के अंदर का जानवर या हिंदुत्व ने एक ही झटके में खत्म कर डाला। दंगे के शिकार अधिकांश लोग यह नहीं समझ पाते कि उनका घर किसने जलाया, उनके बाल-बच्चों की हत्या किसने की, वे कौन लोग थे जिन्होंने उनके भरे पूरे संसार को उजाड़ डाला। वे इस बात को आजीवन नहीं समझ पाते कि उन्हें किस गुनाह की सजा दी गयी है या दी जा रही है।

वजीराबाद वाली छोटी सी घटना अमृतसर स्टेशन के बाद बड़े रूप में दोहराई गई। वजीराबाद में उस नये हिंदू मुसाफिर को सिर्फ एक मुसाफिर की हैसियत से ही डिब्बे में जगह नहीं दी गयी थी। उस वक्त उसे हिंदू नहीं समझा गया था। यदि पठान के मन में हिंदू मुसलमान का भाव रहता तो वह बाबू (हिंदू) को खाने के लिए न्यौता नहीं देता। उसके साथ हंसी-मजाक नहीं करता। लेकिन बाबू उसे मुसलमान के द्वारा एक हिंदू औरत पर लात मारने के रूप में लेता है। अब मामला एक पुराने मुसाफिर द्वारा नये मुसाफिर का विरोध करना नहीं रह गया था। अब यह हिंदू को मुसलमान द्वारा लात मारने का मामला हो गया था। जाहिर है, यह बात हिंदू बाबू को कैसे अच्छी लगती। अतः वह लात का बदला खून से लेता है। कुछ देर के लिए यह मान लें कि वजीराबाद का नया मुसाफिर हिंदू नहीं मुसलमान होता या उसे लात मारने वाला पठान नहीं सरदार होता

तो? यह महज संयोग की बात है कि नया मुसाफिर हिंदू और लात मारने वाला पठान। लेकिन बाबू के अपराध को महज संयोग नहीं कहा जा सकता। हां, यह सच है कि डर से उपजी घृणा, द्वेष के चलते वह एक निर्दोष व्यक्ति की जान ले लेता है। पर मुस्लिम मुसाफिर को मारने के बाद बाबू के मन में खुशी का संचार नहीं होता। उसका मन उसे धिक्कारने लगता है। उस यात्री के साथ उसका जानवर भी मर गया। भीष्म साहनी लिखते हैं- “किसी अज्ञात प्रेरणावश वह एक कदम आगे बढ़ आया और दरवाजे में से बाहर पीछे की ओर देखने लगा।” बाबू का पीछे की ओर देखना पश्चाताप ही है। वह कोई पेशेवर हत्यारा या सांप्रदायिक विचारधारा वाला व्यक्ति नहीं है, अतः वह किसी भी तरह से इस घटना से अपना कोई सरोकार नहीं रखना चाहता। इसीलिए वह अपने दोनों हाथों को सूंघता है “मानो जानना चाहता हो कि उसके हाथों से खून की बू तो नहीं आ रही है।” मानो वह पश्चाताप करते हुए यह सोच रहा हो कि-

“महान होने के लिए/ जितनी ज्यादा सीढ़ियाँ मैंने चढ़ी उतनी ही ज्यादा क्रूरताएं मैंने की/ ज्ञानी होने के लिए/ जितनी ज्यादा पोथियाँ मैंने पढ़ी/ उतनी ही ज्यादा मूर्खताएँ मैंने की बहादुर होने के लिए/ जितनी ज्यादा लड़ाईयाँ मैंने लड़ी उतनी ही ज्यादा कायरताएं मैंने की/ ओह, यह मैंने क्या किया मुझे तो सीधे रास्ते जाना था।” (राजेन्द्र राजन)

लेकिन अब इस पश्चाताप से कुछ होने वाला नहीं है। जो होना था वह तो हो चुका। उसने मूर्ख बनकर क्रूरताएँ भी की और कायरता भी दिखाई। उसके हाथ से खून की बू आए या न आए, पर उसके हृदय पर खून के दाग जरूर रहेंगे। दिन की साफ-सुथरी रोशनी में भी उसे रात की घटना याद आती रहेगी।

‘अमृतसर आ गया है’ कहानी के माध्यम से भीष्म साहनी बड़े ही तीखेपन के साथ सत्य को तार-तार कर देते हैं कि संकट के वक्त भी मानवीयता को बरकरार रखने वाले लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार किया गया। उन्हें बाहरी दंगा के साथ-साथ ट्रेन के दंगे को भी झेलना पड़ा तथा क्रूर दंगाइयों से बचकर आए मुसाफिर समाज के सभ्य मनुष्यों के जानवरपन से नहीं बच पाए।

संपर्क : 25/1/1, फकीर बगान लेन, पिलखाना, हावड़ा-711101, मो. 9681510596

युवा कहानी : आंदोलन का यथार्थ

मनीषा झा

समकालीनता के अंतर्गत युवा लेखन का समय सन् 1990 के बाद आता है। यह समय कई दृष्टियों से परिवर्तन का समय है। सन् 1990 के बाद भारत में भूमंडलीकरण तथा आर्थिक उदारीकरण की नीतियाँ लागू होने के कारण देश के आर्थिक क्षेत्रों में ही नहीं, सामाजिक राजनैतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण बदलाव आए। ऐसे बदलाव के समय जो लेखक उभरकर आए—लेखकों की जो नई पीढ़ी सामने आई, वह समय के प्रति नए नजरिये के साथ आई। समय को देखने का उसका दृष्टिकोण, फिर उसका रचनात्मक रूपांतरण, युगीन यथार्थ की नई अभिव्यक्ति, नई शैली में उसका प्रस्तुतिकरण—कहानी लेखकों की नई पीढ़ी में यह उल्लेखनीय है। इस कारण हिंदी कहानी को एक नया रूप मिला और उसमें एक मोड़ आया। हिंदी कहानी का युवा लेखन—निश्चित ही पहले के लेखन से भिन्न है। इस युवा पीढ़ी की कहानियाँ ‘युवा कहानी’ की संज्ञा से नवाजी गई हैं।

समकालीन हिंदी कहानी में युवा लेखन के लिए 1990 के बाद परिस्थितियाँ तैयार हो रही थीं। भूमंडलीकरण तथा आर्थिक उदारीकरण के समय में देश की परिस्थितियाँ पहले से भिन्न थीं। ऐसे समय और परिस्थितियों में युवा पीढ़ी की रचनाशीलता भी अपना आकार ग्रहण कर रही थी। समकालीन हिंदी कहानी में युवा लेखन को कुछ आलोचकों ने युवा कहानी आंदोलन का जामा पहना दिया, तो कुछ आलोचकों ने इस कहानी में से ‘युवा’ शब्द को सिरे से खारिज कर दिया। कुछ पत्रिकाओं के संपादकों ने युवा कहानी पर विशेषांक निकालते हुए जोर दिया कि यह एक अर्थ में नए ढंग की कहानी है, अतः इसे एक आंदोलन के रूप में देखने का आग्रह सामने आया। ‘वागर्थ’ (कोलकाता), ‘नया ज्ञानोदय’ (दिल्ली), ‘परिकथा’ (दिल्ली), जैसी महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिकाओं के युवा कहानी पर केंद्रित कई-कई विशेषांक निकल चुके हैं। ये विशेषांक काफी चर्चित रहे तथा विवादों से घिरे भी रहे। अक्टूबर, 2004 में ‘वागर्थ’ का युवा पीढ़ी पर केंद्रित नवलेखन विशेषांक निकला। दिसम्बर, 2005 में पुनः ‘वागर्थ’ ने युवा पीढ़ी पर केंद्रित

विशेषांक निकाला। इस कड़ी में 'नया ज्ञानोदय' ने लगातार मई, 2007 तथा जून, 2007 में युवा पीढ़ी विशेषांक प्रकाशित किया। फिर युवा पीढ़ी की रचनाशीलता पर केंद्रित कई महत्वपूर्ण विशेषांक आए 'परिकथा' के। जनवरी-फरवरी, 2009, जुलाई-अगस्त, 2009, सितम्बर-अक्टूबर, 2010, मार्च-अप्रैल, 2011 आदि 'परिकथा' के कई विशेषांक आए जिनसे युवा रचनाशीलता की संलग्नता का पता चलता है। इन सारे विशेषांकों ने युवा कहानीकारों के कई चेहरों से पाठकों को परिचित करवाया। 'प्रगतिशील वसुधा' ने भी समकालीन कहानी पर केंद्रित दो विशेषांक निकाले। इन अंकों के आवरण पर भले ही समकालीन कहानी विशेषांक छपे हों, पर इसे केंद्रित किया गया है युवा कहानी पर। इसके संपादक कमला प्रसाद ने लिखा- 'प्रगतिशील वसुधा के ये दोनों अंक युवा कहानी पर केंद्रित हैं।'

युवा कहानीकार कई बार प्रशंसा की दृष्टि से देखे गए हैं, तो कई बार इन पर प्रश्नचिह्न भी लगते रहे हैं। युवा कहानी की दिशा पर अनेक प्रश्न उठाते हुए इनकी सार्थकता कई बार संदेह की दृष्टि से देखी गई है। प्रश्न उठे हैं- युवा कहानीकारों के रोल मॉडल कौन रहे हैं? युवा कहानी में यथार्थ कहाँ है? इन कहानियों में विचारधारा को क्यों नहीं जगह दी गई है? यहाँ समाज-विमुखता क्यों है? यह कहानी 'लोक' से कटी-कटी क्यों है? आदि। युवा पीढ़ी के कहानीकारों पर सामाजिक यथार्थ की अनदेखी करने का आरोप भी सामने आया है। पर, प्रश्नों की बौछारों के बीच अपनी दिशा बदलने की बजाय ये रचनाकार अपने रास्ते पर अब भी चल रहे हैं।

उपर्युक्त चर्चित पत्रिकाओं में से कुछ ऐसे युवा कहानीकार उभरकर आए जो लगातार अपने लेखन में सक्रिय हैं और अपनी उपस्थिति दर्ज करवाकर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं तथा आलोचना की एक नई कसौटी मांग रहे हैं। नीलाक्षी सिंह, बंदना राग, कुणाल सिंह, मो. आरिफ, मनीषा केलश्रेष्ठ, रवि पुले, कविता, राकेश मिश्र आदि ऐसे युवा कहानीकार हैं। अपनी लेखन-यात्रा में 'परिदे के इंतजार-सा कुछ' कहानी-संग्रह से अपनी पहचान बनाने में सफल हुई नीलाक्षी सिंह तो 'छावनी में बेघर' कहानी संग्रह से चर्चित हुई अल्पना मिश्र। 'यूटोपिया' से बंदना

राग की पहचान बनी, तो 'उलटबांसी' से कविता की। कुणाल सिंह 'सनातन बाबू का दाम्पत्य' के साथ उपस्थित हुए, तो मो. आरिफ 'फूलों का बाड़ा' लेकर आए। 'कठपुतलियाँ' मनीषा कुलश्रेष्ठ की पहचान बनी, तो 'आईने, सपने और वसंतसेना' रवि पुले की। ये कहानीकार युवा कहानीकार के रूप में अपनी पहचान बनाते हुए कहानी की विकास-यात्रा को समृद्ध कर रहे हैं। प्रश्न है कि समकालीन हिंदी कहानी में युवा-लेखन की पहचान क्या है? एक कहानी आंदोलन के रूप में यह कहाँ तक स्वीकृत हो पाया है? इसकी परख के लिए कुछ महत्वपूर्ण मतों को देखना होगा।

समकालीन हिंदी कहानी के युवा लेखन की समय-सीमा निर्धारित करते हुए काशीनाथ सिंह लिखते हैं- "नई सदी शुरू हुई चुपके-चुपके एक युवा पीढ़ी कहानी के आंगन में दाखिल हो गई।" यानी सन् 2000 से उभरी नई युवा पीढ़ी के कथाकार अपना अलग अंदाज रखते हैं, अतः इनकी अपनी एक पहचान है। 'परिकथा' के संपादक शंकर का मानना है- "पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों और नई शताब्दी के शुरुआती वर्षों... इस कालखंड में उभरे युवा कथाकारों के लेखन को हमने सुविधा के लिए युवा कहानी कह दिया है। अगर इसका कोई नाम नहीं दिया जाना है तो कोई नाम दिया जा सकता है या फिर इसे युवा कहानी ही कहते रहा जा सकता है। डेढ़-दो दशकों के बाद निस्संदेह इन युवा लेखकों में से कई युवा नहीं रह जाएंगे और ये उस समय जो कहानियाँ लिखेंगे, उन्हें कई युवा कहानी शायद नहीं कहा जा सकेगा। लेकिन पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों में और नई शताब्दी के शुरुआती वर्षों में इन्होंने जो कहानियाँ लिखी हैं, वे तो युवा कहानी ही कहलाती रहेंगी और इसी रूप में इतिहास में दर्ज रहेंगी।"

'युवा कहानी' नाम पर अपनी अनाश्वस्ति व्यक्त करते हुए परमानंद श्रीवास्तव ने लिखा है- "कहना न होगा कि अभी तक आलोचना इस 'युवा कहानी' को उपयुक्त नाम नहीं दे सकी है।"

'नया ज्ञानोदय' के संपादक रवीन्द्र कालिया ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा- "आज की युवा पीढ़ी कोई

गिरोह बनाकर अवतरित नहीं हुई। एक दौर में बहुत-से कथाकार उभरकर सामने आए। सबका अपना नजरिया था और अपना तेवर।” रवीन्द्र कालिया ने स्पष्ट किया है कि युवा पीढ़ी की कहानी किसी सैद्धांतिकी में फिट होकर या किसी एक विचारधारा में बंधकर लिखी गई कहानी नहीं है। अतः ऐसे में युवा कहानी को एक आंदोलन के रूप में कैसे देखा जाय ? इस मुद्दे पर साठोत्तरी दौर के एक प्रमुख कहानीकार और ‘कथन’ पत्रिका के संपादक रहे रमेश उपाध्याय का विचार द्रष्टव्य है। ‘परिकथा’ के सितम्बर-अक्तूबर, 2010 के अंक में अशोक कुमार पांडेय से बातचीत में वे कहते हैं- “युवा कहानी का क्या मतलब ? यह किस वर्ग के युवाओं की कहानी है ? यह किस काल से किस काल तक की कहानी है ? यह किस उम्र से किस उम्र तक के लेखकों की कहानी है ?” आगे चलकर वे और भी स्पष्ट करते हैं- “युवा कहानी कहने से किसी प्रवृत्ति का पता नहीं चलता। इसलिए उम्र के आधार पर कहानीकारों को बांटना और युवा लेखकों की कहानी को युवा कहानी जैसा नाम देना किसी भी दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है।” विजयमोहन सिंह ने इस कहानी को ‘आज की कहानी’ कहना चाहा है।

कथाकार दूधनाथ सिंह ने राकेश बिहारी की बातचीत में राकेश बिहारी के यह पूछने पर कि “पिछले कुछ वर्षों में हिंदी कहानी के परिदृश्य पर कई नए लेखक उभरकर आए हैं, इसे आप किस तरह देखते हैं, कहानी के एक नए आंदोलन के रूप में या कहानी की परंपरा के विकास के रूप में या किसी और तरह ?” दूधनाथ सिंह उत्तर देते हैं- “जो नए कहानीकार अभी-अभी परिदृश्य पर हैं उनके उभार को मैं हिंदी कहानी के किसी नए आंदोलन के रूप में नहीं देखता।” इस बातचीत में ‘युवा कहानी’ पद के प्रति दूधनाथ सिंह की उदासीनता स्पष्टतः दिखती है।

इन सभी मतों से स्पष्ट होता है कि नब्बे के बाद उभरी कहानी रचनाशीलता के लिए ‘युवा कहानी’ नाम एक आंदोलन के रूप में सर्वसम्मत नहीं हो पाया है। कोई इसे युवा कहानी कहता है, तो कोई युवा पीढ़ी की कहानी, तो कोई आज की कहानी। इस तरह एक ठोस नाम की तलाश अभी तक इस नई रचनाशीलता के लिए बनी हुई है। इस

कहानी का अपना एक अलग मिजाज है और युग-परिस्थितियों को देखने का इसका एक भिन्न नजरिया है- यह नवोन्मेष से पूर्ण जरूर है, पर एक ठोस और प्रामाणिक नाम के अभाव में इसे एक आंदोलन के रूप में नहीं देखा जा सकता। अतः जब तक कोई ठोस नाम न मिल जाय, तब तक इस युवा कहानी या आज की कहानी को समकालीन कहानी के अंतर्गत स्वीकार करना होगा।

युवा पीढ़ी की कहानी नवोन्मेष से पूर्ण है। इस रचनात्मक नवोन्मेष का मुख्य कारण बदला हुआ युग परिवेश है। मुख्यतः नब्बे के बाद वैश्वीकरण, बाजारवाद और आर्थिक उदारीकरण की नीतियों ने एक नए युग का पट खोला है। नया सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी। इस युग में पूँजी के वर्चस्व के कारण मानवीय मूल्य हाशिए की चीज समझी जाने लगी है। यथार्थवादी विचारधाराएँ क्षत-विक्षत अवस्था में पड़ी हैं। हिंसा, आतंक और क्रूरता मनुष्य के सिर चढ़कर बोल रही हैं। चमक, दमक, फैशन, मौज-मस्ती, पावर समय का एक नया यथार्थ उभर रहा है। मीडिया के मायाजाल से उपभोक्तावादी सभ्यता परवान चढ़ रही है। युवा पीढ़ी ने यह सब देखा, अनुभव किया है। इस कारण कहानी के विषय से लेकर शिल्प तक में नवीनता दिखती है अपने युग के नए यथार्थ से इनका सामना होने के कारण युवा पीढ़ी के कहानीकारों का रास्ता पहले के कहानीकारों से अलग है।

आज का यथार्थ जटिल से जटिलतर की ओर है। यह यथार्थ एकरेखीय नहीं, बहुस्तरीय है। एक ओर भूमंडलीकरण और अंतर्राष्ट्रीय बाजार है, जिसके नीचे मनुष्य घुट-पिस रहा है, मनुष्य की आइडेंटिटी क्राइसिस का प्रश्न है। संबंध और संवेदना का नया ही रूप सामने आ रहा है। प्रेम की परिभाषा बदलने वाले युग में प्रेम की रागात्मक गरिमा की रक्षा कठिन होती जा रही है। भूमंडलीकरण और बाजार-तंत्र के हाथों पारंपरिक मूल्य ध्वस्त हुए जा रहे हैं। क्षेत्रीयतावाद और सांप्रदायिकता के लिए स्थान विस्तृत हुआ है। जीवन-यथार्थ का एक रूप यह है। यथार्थ का एक रूप अस्मितामूलक कहानियों में दिखाई पड़ता है। स्त्री-प्रसंग, दलित-प्रसंग, आदिवासी-प्रसंग आदि के रूप में जीवन-यथार्थ कहानियों में अभिव्यक्त हो रहा है। यथार्थ

का एक रूप ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति में कहानियों के माध्यम से सामने आ रहा है। इस तरह युवा कहानी में यथार्थ के कई रूप चित्रित हैं। युवा रचनाशीलता के व्यापक आयामों को खोलते हुए अजय तिवारी 'आज का कथा समय' नामक अपने आलेख में लिखते हैं- "युवा रचना की शक्ति, सीमाओं और संभावनाओं पर विचार करते समय जो बात पहले देखी जानी चाहिए, वह हिंदी की सामाजिकता का विस्तार है। आदिवासी और ग्रामीण पृष्ठभूमि से लेकर आदिवासी और महानगरीय परिवेश तक इतने वैविध्यपूर्ण अनुभव वर्तमान कहानी में सिमट आए हैं कि कोई एक रचनाकार पूरे परिदृश्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, एक रचना प्रवृत्ति को 'मुख्य' स्वर नहीं कहा जा सकता।" सच है कि युवा कहानी में जीवन-यथार्थ के विभिन्न पक्षों को उपस्थित करने की प्रवृत्ति मौजूद है। इन कहानियों में यथार्थ पारंपरिक रूप में चित्रित न होकर नए रूप में उपस्थित है।

इन कहानियों में चित्रित यथार्थ का स्वरूप उद्घाटित करते हुए काशीनाथ सिंह लिखते हैं- "यथार्थ तो वही है- दस-पंद्रह वर्षों का समकालीन यथार्थ जो सभी कथाकार लिख रहे हैं लेकिन इन्होंने उसके अंदर छुपे उस नुक्ते को

लिया है जो या तो अनदेखा रह गया है या अछूता है।" युवा कहानीकारों की यथार्थ-दृष्टि की प्रशंसा का एक रूप यह है, तो कभी यह आलोचकीय संदेह से होकर भी गुजरा है। अजय वर्मा 'आज की हिंदी कहानी' नामक अपने आलेख में 'यथार्थ के नए तिलिस्म' को समझने और स्थापित करने को रेखांकित करते हैं। वे लिखते हैं- "वर्तमान स्थिति यह है कि आज के जटिल यथार्थ को ही कैरीकेचर में बदल दिया गया। उसके प्रति इसमें न तो कोई संवेदना रह गई है न लगाव, सहज मानवीय अन्तर्वृत्तियों और संबंध चेतना को ही इन्होंने फैंटसी में बदल दिया।" इस आलेख में युवा कहानीकारों के प्रति नाराजगी प्रतीत होती है। नाराजगी का कारण मुख्यतः युगीन जटिल यथार्थ का निस्संगतापूर्ण चित्रण है।

युवा कहानी नवोन्मेष से पूर्ण होने के कारण आलोचना की नई कसौटी मांग रही है। पुरानी आलोचनात्मक कसौटी से इस कहानी की परीक्षा संभव नहीं। समकालीन कहानी के युवा लेखन का एकतरफा मूल्यांकन यानी यथार्थवादी विचारधारा के आधार पर मूल्यांकन करने की बजाय आज उसके चतुर्दिक मूल्यांकन की जरूरत है। तभी-युवा कहानी का व्यापक फलक सामने आता है।

संपर्क:

हिंदी विभाग, उत्तर बंग विश्वविद्यालय,
राजा राममोहनपुर, सिलीगुड़ी,
दार्जिलिंग-734013, मो. 09434462850

आदिवासी अस्मिता शोध का संकट और हिंदी उपन्यास

डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

भारत एक विशाल देश है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार हमारे देश की जनसंख्या 1.21 अरब है, जो कि चीन के बाद विश्व में सर्वाधिक है। अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत तथा विविधताओं के कारण भारत की सभ्यता संसार की एक प्राचीन सभ्यता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जनजातियों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। “भारत में जनजातियों की आबादी अफ्रीका के बाद दुनिया में सर्वाधिक है।”¹ ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये लोग भारतीय प्रायद्वीप के मूल निवासी हैं। मूल निवासी होने के कारण ही इन्हें सामान्यतया ‘आदिवासी’ कहा जाता है। “हमारे देश में करीब 550 जनजातियाँ हैं।”² सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इनकी जनसंख्या 10.42 करोड़ है, जो कि देश की कुल जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत है।

“भारत की जनजातीय जनसंख्या व्यापक रूप से बिखरी हुई है लेकिन कुछ क्षेत्रों में उनकी आबादी काफी घनी है। जनजातीय जनसंख्या का लगभग 85 प्रतिशत भाग ‘मध्य भारत’ में रहता है जो कि पश्चिम में गुजरात तथा राजस्थान से लेकर पूर्व में पश्चिम बंगाल और उड़ीसा तक फैला हुआ है और जिसके हृदय-स्थल (मध्य भाग) में मध्य प्रदेश, झारखण्ड, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र तथा तेलंगाना और सीमान्त्र के कुछ भाग स्थित हैं। जनजातीय जनसंख्या के शेष 15 प्रतिशत में से 11 प्रतिशत से अधिक पूर्वोत्तर राज्यों में और बाकी के 3 प्रतिशत से थोड़े-से अधिक शेष भारत में रहते हैं। यदि हम राज्य की जनसंख्या में जनजातियों के हिस्से पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि पूर्वोत्तर राज्यों में इनकी आबादी सबसे घनी है।”³ मिजोरम देश का ऐसा राज्य है जहाँ की लगभग 95 प्रतिशत आबादी जनजातीय है। वहीं दूसरी ओर मध्य प्रदेश में 1.53 करोड़ जनजातीय लोग रहते हैं और संख्या के लिहाज से यह राज्य देश में शीर्ष पर हैं।

शताब्दियों से आदिवासी समाज अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। औपनिवेशिक युग में शोषकों की एक पूरी फौज ने उनका सामाजिक-आर्थिक शोषण किया और तत्कालीन सरकार ने उनके अलगाव की नीति जारी रखी। देश की स्वतंत्रता के बाद हालांकि तमाम सरकारों ने उन्हें मुख्यधारा में लाने के प्रयास किये हैं, लेकिन इसके बावजूद अभी भी वे शोषण, घुटन और अलगाव से पीड़ित हैं और अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

बाजारीकरण और भूमंडलीकरण के वर्तमान युग में आदिवासियों के समक्ष अपनी कला, संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज और परंपराओं को बचाने का बहुत बड़ा संकट खड़ा

हो गया है। जनजातियों के समक्ष आज दोहरी समस्या है एक तरफ वे अत्यंत अविकसित अवस्था में हैं और जीवन के सर्वांगीण विकास हेतु प्रयासरत हैं। वहीं दूसरी तरफ उन्हें अपनी मौलिक पहचान को बनाये रखने के लिए लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

वर्तमान समय में आर्थिक संपन्नता सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारक कारक बन गयी है, ऐसे में अपनी गरीबी और लगातार हो रहे शोषण के चलते आदिवासी समाज शेष समाज की मुख्य-धारा से नहीं जुड़ पाया है। आदिवासी और तथाकथित सभ्य समाज के बीच इस वैषम्य ने उनके अंदर विद्रोह और अलगाववाद की धारणा को जन्म दिया है। छत्तीसगढ़, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, झारखण्ड, तेलंगाना, सीमान्त्र इत्यादि राज्यों के अनेक जिलों में 'नक्सली समस्या' को भी हताशा और उपेक्षा से उपजी कार्यवाही बताया जा सकता है। नक्सली गतिविधियाँ जहाँ देश के लिए चुनौती हैं वहीं इनसे आम आदिवासी भी बुरी तरह प्रभावित हुआ है। 'एक गैर सरकारी संगठन की रिपोर्ट के मुताबिक, देश के विभिन्न हिस्सों में जारी नक्सली गतिविधियों के कारण चार लाख से ज्यादा आदिवासी लोग बेघर हो चुके हैं। एशियन इंटेजिनस एंड ट्राइबल्स पीपल्स नेटवर्क के मुताबिक ये विस्थापित लोग भोजन, पानी, छत, इलाज और आजीविका के साधनों के अभाव में मुश्किल से गुजर-बसर कर रहे हैं।'⁴ इसके अतिरिक्त कई क्षेत्रों में हो रहे असमान विकास ने भी आदिवासियों के बीच विद्रोह की भावना को मुखर किया है।

जनजातियों की कला और संस्कृति को संरक्षित करने की कोई ठोस नीति भी सरकार ने नहीं बनाई है। उचित संरक्षण के अभाव में जनजातियों की बहुत सी ललित कलायें आज दम तोड़ रही हैं। देश की तमाम छोटी-छोटी जनजातियाँ भी आज लुप्त होने के कगार पर हैं। अंडमान-निकोबार की कई जनजातियाँ यथा आंगे, सेंटनेलीज और ग्रेट अंडमानी पर विलुप्त होने का खतरा सर्वाधिक है। इन जनजातियों के कुछ ही परिवार अब शेष बचे हैं। निश्चय ही यह गंभीर चिंता का विषय है।

आदिवासियों के समझ अस्मिताबोध के संकट को हिंदी लेखकों ने गहरी संवेदना के साथ महसूस किया है,

कई उपन्यासों में इस संकट के मूल कारणों की पड़ताल की गई है और उन स्थितियों को भी दर्शाया गया है जिसके चलते आज आदिवासी का वजूद खतरे में है। 'शैलूष' उपन्यास में लेखक आदिवासियों के जीवन पर आये संकट को औद्योगिकीकरण से जोड़कर देखता है। उपन्यास में सब्बो, जुड़ावन नट से कहती है—“तुम लोगों की सबसे बड़ी कमजोरी है कि तुम लोग आगे के बारे में कुछ सोचते ही नहीं। अब वह सब जिसे तुम धरती मइया कहते थे, जहाँ तुम्हारा कबीला डेरा डालता था, जहाँ तुम्हारी छोकियाँ नहाती-धोती थीं, जहाँ तुम्हारे गदले गुल्ली-डंडा खेलते थे, जहाँ तुम्हारी भैंसे चरती-चोथती थीं, जहाँ तुम्हारे मुर्गी-मुर्गियाँ दाना चुगती थीं, वह सब छिन जायेगा। तुम सोचते हो कि सोन पहड़ा पीली चट्टानों का ढेर है, पन्ना की पहाड़ियाँ हरे रंग की साड़ी में लिपटी सोनवां या उसी तरह की खूबसूरत परियाँ हैं जिसे तुम खुन की होली खेलकर उठा लाओगे, जैसे तुम्हारे पूर्वज आल्हा-ऊदल ने किया था। तुम लोग देख नहीं पा रहे हो, मूरखचंदो, कि यह सारा इलाका किस तरह बदल रहा है कि सीमेन्ट, चूना, कोयला, जस्ता, अलुमुनियम के लिए खुदाई होगी कि तुम्हारे जैसे आदिवासियों को पैर रखने की जगह नहीं मिलेगी।”⁵

‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ में संजीव अदिवासियों के अस्तित्व पर आये संकट को पूरे परिवेश के साथ चित्रित करते हैं। उपन्यास के केन्द्र में बिहार के पश्चिमी चंपारण जिले की थारू जनजाति की कथा है। लेखक डाकुओं की समस्या को एक सामाजिक समस्या के रूप में चित्रित करता है। कहीं न कहीं इस समस्या के लिए हम खुद जिम्मेदार हैं। दरअसल हम दूर बैठकर यह मान लेते हैं कि डकैतों का सफाया होना चाहिए लेकिन हम डकैत बनने की परिस्थितियों को नहीं देखते। हर आदमी अपने जीवन में सम्मान चाहता है और जब चाहकर भी उसे शोषण से मुक्ति नहीं मिलती तो वो बंदूक उठा लेता है। यह उपन्यास राजनीति, समाज और धर्म में आयी गिरावट को भी रेखांकित करता है। आज भी थारू जनजाति अभाव, पिछड़ापन, शोषण, यंत्रणा, उत्पीड़न, विस्थापन, भूख जैसी समस्याओं से ग्रस्त है। उन्हें एक ओर तो सेठ-साहूकार शोषित करते

हैं वहीं दूसरी ओर पुलिस भी अत्याचार करती है। ऐसा लगता है कि सारा कानून गरीबों के लिए है। उपन्यास में मलारी अपने भतीजे काली से अपने जीवन की व्यथा व्यक्त करती है—“काहे को गरीब घर में जनम दिये हे भगवान? ई कैसी जिनगानी है वीरन, तुम राम की नाई जंगल-जंगल भटक रहे हो। तुम्हारा भाई नहीं, बाप था बिसराम, दशरथ की तरह क्लेश से तड़प-तड़प के मरा, माटी की गति करने वाला भी कोई नहीं, जैसे वह किसी माँ की कोख से नहीं खोंडर में पैदा हुआ था। तुम्हारी सीता जैसी दुलहिन को कौन ‘रवनवा’ हर ले गया। उसको कोढ़ा भी नहीं फूटता। अभी भी ई कठकरेज हम-तुम जिंदा ही हैं, हे भगवान।”⁶

‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में लेखक मुख्यतः विकास और औद्योगीकरण को आदिवासियों के जीवन में आये संकट का कारण मानता है। हालांकि समस्या तब शुरू होती है जब विकास में हिस्सेदारी के बावजूद आदिवासियों को उपेक्षित कर दिया जाता है, शताब्दियों से जिन संसाधनों पर उनका अधिकार चला आ रहा है विकास के नाम पर वे उससे बेदखल किये जा रहे हैं। लेखक इस पर चिंता प्रकट करता है— “आधुनिक विकास के नारों की उल्टियाँ करती चिमनियाँ आदिवासियों के जंगल, जमीन और पारंपरिक रोजगार तक छीनती गयी हैं। संजीव को लगता है, स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय विकास की जितनी बड़ी कीमत आदिवासी समाज ने चुकायी है उतनी शायद किसी समाज ने अकेले दम नहीं चुकायी।”⁷

धर्म के आड़ में आदिवासियों के शोषण की समस्या को ‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास में मनमोहन पाठक उठाते हैं। अपने परंपरागत धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को अपनाने से जहाँ आदिवासियों में सांस्कृतिक समस्याएँ बढ़ी हैं वहीं धर्म के वर्चस्व की राजनीति ने उनके अंदर धार्मिकहीनता, पराजय बोध और अलगाव की भावना पैदा की है। नये और पुराने के द्वंद्व में फँसकर आदिवासी अपने आपको वैचारिक स्तर पर भी ठगा हुआ महसूस करता है। अनावश्यक धार्मिक हस्तक्षेप उनके दैनिक क्रियाकलापों को प्रभावित करता है। उपन्यास में धार्मिक शोषण से आहत सोनाराम टूना उराँव से कहता है— “लेकिन उनका

धर्म तो हमें सजा दे रहा है, दादा! हमारा धर्म हमारे देवता क्या इतने कमजोर हैं कि वे अपने लोगों को बचा नहीं सकते? उनके फैलाए गए प्रपंच से गाँव के गाँव उजड़ते चले जा रहे हैं। जब हमारे लोग, हमारी जाति, हमारा समाज ही नहीं रहेगा तो हमारा धर्म किसके लिए होगा?”⁸

अस्मिताबोध के लिए आदिवासियों के संघर्ष की समस्या को रांगेय राघव ने ‘कब तक पुकारूँ’ उपन्यास में यथार्थ और मार्मिक तरीके से प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार करंटों की निर्धनता, खानाबदोशी, जीवटता, जरायमपेशा जाति के रूप में जीवन जीने की विवशता, पुलिसिया अत्याचार और उनकी स्त्रियों के यौन-शोषण की समस्या को पूरी संवेदना के साथ चित्रित करता है। उपन्यास का मुख्य पात्र सुखराम तरह-तरह के शोषण का शिकार होता है, उसकी विवशता यह है कि उसके पास शोषित होने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। वह अपनी वेदना व्यक्त करता है— “हम जरायमपेशा हैं। हमारी कोई इज्जत नहीं है। कोई आसरा नहीं है, कोई हमारा मददगार नहीं। हमारे जमीन नहीं, कुछ नहीं। आसमान के नीचे सोते हैं, धरती हमारी माता है। हम घास की तरह पैदा होते हैं। रौंदे जाते हैं। हमारी औरतों को पुलिस के सिपाही दूब समझकर चर जाते हैं।”⁹ सुखराम उपन्यास का ऐसा पात्र है जो लगातार अत्याचार सहता है। नट जाति को समाज में अत्यंत हेय दृष्टि से देखा जाता है और कई बार केवल इसी आधार पर उन्हें प्रताड़ित किया जाता है। जातीय अत्याचार की पीड़ा से व्यथित होकर वह कजरी से कहता है—

‘नहीं कजरी, नहीं कहने से तो काम नहीं चल जाता! तू थोड़ा गाँव की ओर देख। किसान होता है? गरीब है, भूखा है, पर उसे बौहरा उधार देता है, उसकी भी इज्जत है। हम सबसे गए-बीते, कुत्तों से भी बदतर हैं। हम नट क्यों हैं कजरी?’

‘क्योंकि हमने नटनी के पेट से जनम लिया है।’

‘हमने ऊँची जाति में जनम क्यों न लिया?’

‘यह तो भाग की बात है।’

‘मानुस देह पाई है हमने, तो फिर हम पर इतने जुलम क्यों होते हैं?’¹⁰

समाज के तथाकथित ठेकेदारों द्वारा आदिवासी स्त्रियों

के दैहिक शोषण को भी उपन्यासकार चित्रित करता है। जातीय अभियान के चलते उच्च जाति के लोग आदिवासियों का बेखौफ शोषण करते हैं। विचार और व्यवहार दोनों से सामंती प्रवृत्ति के लोग समाज में मौजूद हैं जिनके लिए निम्न जाति की स्त्रियाँ केवल शारीरिक भूख मिटाने के लिए हैं। स्त्रियों के शोषण के मामले में छुआछूत और जातीय श्रेष्ठता के दंभ धरे के धरे रह जाते हैं। ठाकुरों के द्वारा करनट स्त्रियों के निर्मम शोषण पर सुखराम की भाभी कहती है—

‘राधा की बहू कुएं में डूब मरी।’

‘क्यों?’

‘ठाकुरों ने उसे कहीं का न रखा।’

सुखराम ने दोनों हाथ उठाकर कहा: ‘तू देख रहा है? यह है तेरी दुनिया! यह है तेरा न्याय! और कहने को हम कमीने हैं। ये लोग जाति के बल पर, डंडे के बल पर गरीबों की खाल खेंचते हैं। इनके घमंड सबको कुचलकर रखता है। यह नफरत के बल पर जीते हैं, ताकि दूसरों का घर बरबाद कर सकें।’

वह कह नहीं सका। उसका गला रुंध गया। फिर रुककर कहा: ‘और कह भाभी!’ ‘उन्होंने’, स्त्री ने कहा: ‘बुद्धा, हीरा और पंगा को नंगा करके बेटों से पीटा और उनकी औरतों के मिर्च भर दी।’

सुखराम के रोंगटे खड़े हो गए। उसकी आँखें भय से निकल आईं। स्त्री ने कहा: ‘पंगा की बहू के पेट में था। गिर गया। वह मर गई।’¹¹ सुखराम उच्च जातियों के इस निर्मम और घृणित अत्याचार से बहुत गहरी वेदना से गुजरता है। वह सोचता है, यह दुनिया ईश्वर ने आखिर क्यों बनायी है कि साधारण लोगों को जीवन का भी अधिकार नहीं है। यहाँ गरीब हमेशा असहाय रहता है, जो ही पाता है वह उन सबका शोषण करता है। वह भगवान से पूछता है— ‘‘ये दुनिया नरक है। हम गंदे कीड़े हैं। तूने यह संसार ऐसा क्यों बनाया है जहाँ आदमी कटता है तो उसके लिए दर्द नहीं होता? ...वे बड़े लोग क्यों करते हैं ऐसा? क्या वे अपने धन और हुकूमत के लिए आदमी पर अत्याचार करने से नहीं कांपते? तू चुप है, तू जवाब नहीं देती? नट की छोरी पर जवानी आती है और गंदे आदमी उसे बेइज्जत करते हैं, फिर

भी रंडी की तरह जिए जाती है। जिए जाती है। मर क्यों नहीं जाती? हम सब मर क्यों नहीं जाते?’¹²

आदिवासियों के जीवन पर संकट की समस्या को ‘अल्मा कबूतरी’ में लेखिका बहुत संजीदगी के साथ उठाती हैं। कबूतरा जनजाति भी नटों की भांति खानाबदोश है और तथाकथित सभ्य समाज के लोग (कज्जा) उन पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं। कबूतरा जनजाति के संबंध में गोपाल राय लिखते हैं— ‘‘भारत में आज भी कुछ ऐसी अभागी जनजातियाँ हैं जो आजादी का अर्थ नहीं जानतीं। उनके पास न अपनी जमीन है, न ठिकाने का घर बार। औपनिवेशिक शासन ने इन्हें ‘जरायमपेशा’ जाति घोषित कर न केवल तथाकथित ‘सभ्य’ समाज की नजरों में उपेक्षा और घृणा का पात्र वरन् पुलिस के अत्याचार का सबसे नरम चारा भी बना दिया था। यद्यपि देश के आजाद होने के बाद इन जातियों को समान नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो गया है, पर जीविकोपार्जन का कोई सम्मानजनक साधन न उपलब्ध होने के कारण इनके पुरुष अपराधकर्म और स्त्रियाँ देह-व्यापार के लिए विवश होती हैं।’’¹³

‘अल्मा कबूतरी’ में लेखिका अस्तित्व के लिए आदिवासियों के संघर्ष को गहरी संवेदना के साथ चित्रित करती हैं। देश के सरकारी महकमें में आदिवासियों को अभी भी भेदभाव का शिकार होना पड़ता है। स्थिति यह है कि यदि कोई आदिवासी अपने परिश्रम से किसी पद को प्राप्त कर लेता है तब भी उससे दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। सरकारी कार्यालयों में अभी भी मध्ययुगीन संस्कार हावी हैं। उपन्यास का पात्र रामसिंह पढ़-लिखकर मास्टर हो गया है लेकिन उसे तब भी स्वतंत्रतापूर्वक जीने का अधिकार नहीं है। पुलिस के अत्याचार और बाबुओं की मनमानी से वह रोज अपमानित और प्रताड़ित होता है। ऑफिस का चपरासी तक उसे घृणा की नजरों से देखता है। रामसिंह और ऑफिस के बड़े बाबू के बीच कहा-सुनी पर चपरासी कहता है— ‘‘साले ऊँची जाति के लड़कों के हकों को हड़पकर चोर-उचक्कों से मास्टर-फास्टर बन गए। अब तक अम्मा लहंगा उठाए फिरती थी। बेटा कुर्सी पर क्या बैठा अम्मा सती-सावित्री हो गई। सिपाही अब तक होंठ चाटते हैं— बूढ़ी हो गई तो क्या औरत नहीं रही?

और यह अपनी माँ का भडुआ, तुम्हें अपनी हैसियत समझा रहा है।”¹⁴ उपन्यास में लेखिका दिखाती है कि किस तरह जाति के कारण उन पर अत्याचार होता है। देश की पूरी व्यवस्था भी शोषकों के पक्ष में खड़ी होती है और संघर्ष करने के बावजूद अंततः कबूतरा ही पराजित होते हैं। उपन्यास में रामसिंह माँ के अपमान के प्रतिशोध में चपरासी से झगड़ा कर लेता है। हालांकि उसकी कोई गलती नहीं है फिर भी व्यवस्था के चरित्र को देखकर उसे लगता है कि अंततः बलि का बकरा उसे ही बनना पड़ेगा। रामसिंह को अफसोस है कि उसकी माँ का सपना पूरा नहीं हो पाएगा। शोषकों के अत्याचार की पीड़ा और विवशता में रामसिंह को लगता है— “कैसा सपना देखा माँ ने जो इस तरह कुचला गया। नौकरी निभाना बेखौफ जीना नहीं हो सकता। लोगों को जगाने की बात सोची थी, वह भी बेकार है। सुख हमारी तकदीर में नहीं। नौकरी छूटने लायक अपराध कर आया। अब हथकड़ियों की बारी है। खुशी उनके लिए तो और भी नहीं, जो इंसान की तरह खुशी का छाया छूने को मरते हैं। माँ ने अपनी जिंदगी चुकाकर ऐसा ही सुख चाहा था, कितनी जल्दी दुख में बदल गया। इन लोगों को पता ही नहीं कि माँ अब इस दुनिया में नहीं, होती तो इन आतताइयों को पूरी बर्बरता के साथ जाँघों में भींचकर मार डालने का मौका ढूँढ़ती।”¹⁵ पढ़-लिखकर समाज के लिए कुछ करने की चाह और सम्मान की जिंदगी जीने की अभिलाषा शोषकों के दमन से अधूरी रह जाती है। रामसिंह चाहकर भी जिंदगी की लड़ाई हार जाता है। वेदना के क्षणों में वह सोचता है— “माँ का कैसा कलेजा था! अन्याय सहन करके न्याय की राह बुहारती रही! मैं बेईमानों के बीच से ईमानदारी नहीं पा रहा! इनका बोया जहर का पेड़ बड़ा मजबूत है। उसकी जड़ें सैकड़ों वर्ष पुरानी हैं। पूरी तरह धरती में फैल गई हैं।”¹⁶

निश्चित रूप से आदिवासी समाज के समक्ष 21वीं सदी में भी गंभीर चुनौतियाँ हैं। भारत सरकार के साथ-

साथ राज्य सरकारों ने भी आदिवासियों के उत्थान के लिए विविध प्रयास किये हैं। संवैधानिक स्तर पर भी आदिवासियों के हितों की रक्षा की गई है। लेकिन केवल योजना निर्माण और अधिकार देने से ही आदिवासियों की समस्या हल हो जायेंगी ऐसा संभव नहीं है। हमें समाज की उस मानसिकता में भी परिवर्तन लाना होगा जिसके कारण आदिवासी हमसे कटे हुए हैं। आदिवासियों के हक को समझने की जरूरत है क्योंकि ये उनकी मिट्टी से जुड़ा हुआ मामला है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू कहा करते थे कि “आदिवासी कोई म्युजियम की वस्तु नहीं है। हमें उनको विकास की मुख्यधारा में शामिल करना है।” कहना न होगा कि अब हम आदिवासियों को उनके हाल पर नहीं छोड़ सकते, हमें हाथ बढ़ाना ही होगा। आज आदिवासियों का सर्वांगीण विकास करना समय और समाज की जरूरत है।

संदर्भ :

1. भारतीय जनजातियाँ, रूपचंद्र वर्मा, पृ. 1
2. जनजातीय विकास विभाग, भारत सरकार
3. भारतीय समाज, एन.सी.ई.आर.टी., पृ. 53
4. नवभारत टाइम्स (दिल्ली), 25 मई 2009
5. शैलूष, शिवप्रसाद सिंह, पृ. 90
6. जंगल जहाँ शुरू होता है, संजीव, पृ. 201
7. पठार पर कोहरा, राकेश कुमार सिंह, पृ. 155
8. गगन घटा घहरानी, मनमोहन पाठक, पृ. 85
9. कब तक पुकारूँ, रांगेय राघव, पृ. 117
10. वही, पृ. 147
11. वही, पृ. 267
12. वही, पृ. 268
13. हिंदी उपन्यास का इतिहास, प्रो. गोपाल राय, पृ. 389
14. अल्मा कबूतरी, मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 102
15. वही, पृ. 102
16. वही, पृ. 103

संपर्क :

शासकीय नवीन महाविद्यालय, जिला- बलरामपुर, रामानुजगंज (छ.ग.)

मो. 8120975244

विष्णु चंद्र शर्मा

कबीर आए हैं अकेले

इस घर में
न कबीर रहते हैं
न कबीर पंथी !

इस घर में
खोजा करता हूँ मैं
कबीर को !
और देखते देखते
कबीर पंथ ताश के महल-सा
भहरा जाता है।

इस घर में
फिर भी कबीर आए हैं अकेले !
न मैंने इकतारा बजाया
न युद्ध का नगाड़ा या दमदमा
सुना कबीर ने।
कबीर इस घर में
हँसे थे
जैसे अपना कार्टून बनाकर
हँसते हैं कार्टूनिस्ट !

फिर कबीर चुपचाप
आत्मालाप करने लगे थे...
पेड़ से
लता से
मैना से,
बुलबुल से
और मेरी कॉपी पर
छोड़ गए थे अपनी
संवाद करती हुई
ताजी कविता।

कबीर के अनुभव में

कहीं होंगे मेरे पाठक
जो अभी जामुन बीन रहे हैं...
जो प्लास्टिक बटोर रहे हैं अभी
जो साइकिल पर माल लादे हुए अभी जा रहे हैं बाजार...
जो ज़रा सा एकांत पाते ही
पढ़ रहे हैं मेरी कविता !

कहीं होंगे मेरे पाठक
समुद्र की चपेट खाते, उखड़े पेड़ के नीचे...
पहाड़ की जमी बर्फ को काटते हुए...
चक्रवात के बाद टूटे पुल पर अटके हुए...
अटक अटक कर जो पढ़ रहे हैं मेरी कविता...

कहीं होंगे मेरे पाठक
पटरी पर बिस्तर डाल कर...
गंदे नाले के पीछे झोपड़ी बनाकर...
गंदी बस्ती के एकांत में सुकून की तलाश करते हुए
जो अपने जीवन में खोज रहे हैं कविता...

कहीं इसी जीवन में मेरी कविता
अपने पाठक के सिरहाने बैठी होगी।
कहीं चाय-घर में सुड़क रही होगी चाय।
कहीं हाथ में लेकर पोतला चख रही होगी स्वाद !

कविता मेरी:
उनका स्वाद है,
उनका जंग है,
उनकी कमी है,
उनका रंग है

कविता मेरी बदलने वाली है
कबीर के अनुभव में...

थतकही कबीर बे

सपना कब
टूट कर दुःस्वप्न बन जाता है
कबीर !
दुःस्वप्न कब
बनी सुरंग में
फेंक आते थे तुम्हें।
इस पूरी प्रक्रिया को
कबीर
टी.वी. का कोई सीरियल नहीं जानता
या बनाता है।
इस प्रक्रिया में
न ही अखबार
मेरे सपनों का आख्यान लिख
या साया कर पाते हैं।
बस कबीर
जब रोज का अखबार फेंक कर
बासी पड़ जाता हूँ
सपने सहेज देते हैं मुझे !
कबीर दुःस्वप्न
किसी गुमनाम सुरंग में
क्या गढ़ते या उकेरते थे !
देखो मेरी दीवार पर
दुःस्वप्न उकेर रहा है
भित्ति चित्र !
देखो कबीर
भित्तिचित्रों से आकर
जैसे बहुत समय बाद मेरी टांगें
साबुत मिल रही हों मुझसे।
जैसे बहुत समय बाद
भरतनृत्य की कोई गति साथी हो मेरी टांगों ने।
जैसे स्वप्न
सिखा रहे हो दुःस्वप्न को पहला पाठ !

कल कबीर थन बाका है

एक नदी
जितना रचती है
मैं एक दिन में
उसके मुकाबले
एक पन्ना भी
रच नहीं पाता हूँ !
बस नदी
रच कर भूल जाती है
अपना नृत्यगीत
अपनी पेंटिंग
अपना आख्यान...।
और मैं
सारे दिन
एक पन्ने पर अटका रह जाता हूँ।
जैसे वह पन्ना उलटा
और मैं मरा।
और साँझ मुझे
लीलती जाएगी।
रात मुझे
चौकी पर पटक कर
बताएगी
कोई कब
एक दिन में कबीर बन सका है !
कब एक दिन में
बन सकी है नदी
कबीर की कविता...

संपर्क : ई-2, सादतपुर, दिल्ली- 110094, मो. 09810481433

शम्भु बादल

अक्षत लाने का रास्ता बताया

(आलोचक डॉ. दिनेश्वर प्रसाद)

ठण्डे झोंकों के
पुष्ट कन्धों से
जब भीर उजाड़ उतरा
पत्तियाँ बिखरने लगीं
पेड़-पौधे उदास होने लगे
आप ने उन्हें
हरियाली के
कोंपलों, कलियों के
सृजन का गुर सिखाया
वसन्त लाने का रास्ता बताया
अंधेरे से घिरे व्यक्ति के हाथ
दीये दिये
आज एक प्रश्न-केन्द्र बुझ गया
विमर्श-क्षेत्र रिक्त हुआ
भाषा, साहित्य, संस्कृति का
मुखर कोश
मौन दुनिया का नागरिक बन
जीवन-सार पर मनन की शिक्षा
हमें दे रहा है
चिरनिद्रा में भी
भूमि-शैय्या के चेहरे की दीप्ति
अतीत-वर्तमान-भविष्य की
बहुत सारी बातें
एक साथ बता रही हैं
प्रश्नों के उत्तर
समस्याओं के हल
स्वयं खोजने के आदेश दे रही हैं
भरी आँखों से
चेतना-केन्द्र में रखता हूँ
अंतिम दर्शन
गुरुवर! स्वीकार
मेरा नमन।

दहकती है धूप

जलती सड़कें
जलती पगडण्डियाँ
जलता हटिया बाजार
झुलसते पेड़ों ने
तान दिये सीने
फैला दिये हाथ
किन्तु, चिनगारी रुकती नहीं
छिटक-छिटक पड़ती है
माथे पर
फटे कपड़े की गोद में
पीठ पर रखे
मुरझाये बच्चे पर
मुरझाये कमल पर
माँ टोकरी से कच्चे आम ले
तराजू से तौल-तौल
बेचती है
भात का सपना
चेहरे पर झरता है
बच्चा रह-रह सेंसाता है
दबा-दबा रोता है
माँ खड़ी हो बायें-दायें हिलती है लय में
हिलता है छुड़ा पालने में
बच्चा उठाता है सिर
देखता है आम
देखता है ग्राहक
छोटी-छोटी लाल-लाल आँखों से
निकलते हैं हाथ
पालने से बाहर।

हँसी

हँसो-हँसो
हँसते रहो
लेकिन ऐसे नहीं
कि जीवन की हँसी
गायब हो जाये
वो चाहते हैं:
पियो
खूब पियो
गाओ
खूब गाओ
सोने के
स्वागत के गीत
भ्रम के गीत
सजो
खूब सजो
नाचो
खूब नाचो
लटके-झटके
कपड़े फेंक
बिन्दास बन
कि सोचना
करना
सब छोड़
किशोर
चरम उत्सुकता पर भटकें
युवा
चाँद-तारों को भूल
देखते रह जायें
वृद्ध
आँखों में प्यास रख
कोसने में लगें
भोग की भूख
बढ़े
अंधकार के हाथ
पीढ़ियों के माथों पर
चलें

मस्तिष्क की आँखें
अलसायें
चेहरों पर रंग
पुते।

यह पल

कुल्हाड़ियाँ घूम रही
डरावने दिन-रात
पत्तियाँ सहमी हैं
टहनियाँ भी चुप
जड़ें उदास
धड़ सदमे में
पेड़ की बेचैनी
बढ़ने लगी
उसकी आग
घुमड़ने लगी
उसका उर्वर यौवन
अब जग गया
यह पल
सहने का नहीं
बोलने
कुल्हाड़ियाँ तोड़ने
नया कुछ करने का है।

नींछ

दिन-रात खट
पसीने से लथपथ
गहरे में नींव पड़ी
प्यारे-से घर की
रामू-फारुख के घर
गुरमित-जॉनसन के घर
खेत की जुताई हो
बीज की बुआई हो
फसल की कटाई हो
कारखाने की कमाई
कोई नहीं कम।

संपर्क : सूरज-घर, जबरा रोड, कोरा, हजारीबाग- 825303 (झारखंड)

सुरेन्द्र सिग्ध

हमारा प्यार

मैंने कहा- मैं बाघ हूँ, बाघ
खा जाऊँगा तुम्हें
चबा डालूँगा बोटी-बोटी
उदरस्थ कर लूँगा
तुम्हारा अस्तित्व

वह सहमी
बड़ी-बड़ी आँखों में
उतर आया

किसी गली-गलियारे का छिपा भय
एक अपूर्व दहशत
करुणामयी आँखों से
मुझे देखा एक बार
फिर तुरंत सिमट गयी
मेरी बाँहों में
जिंदगी की पूरी
गर्माहट के साथ

अब वह थी 'बाघ'
युगों से भूखी
मैं था अवश
लाचार
बँधा हुआ मेमना
करुणामयी आँखों से
मैंने देखा
उसके प्यार का हिंस्त्र रूप

बड़ी-बड़ी आँखों से
उतरती आग की लाल लपटें
खा गयी मुझे चटपट
लुप्त हो गया मेरा अस्तित्व
हमारा प्यार
बाघ और मेमने का प्यार था।

तुम हो बादल तुम खबर बही हो

नवम्बर की इस दोपहरी में
मेघों से आच्छादित है आकाश
लबालब भरा हुआ है विस्तृत नभ
शहद भरे मधुछत्ते जैसा
अब छलका
मेरे मन के आकाश में
बरस जाने को व्याकुल
भारी बादलों की तरह
उमड़ जा रही हो तुम
तुम हो बादल
तुम बरस रही हो
भींग रहा है मेरा तन-मन
भींग रही है
नवम्बर की सर्द दोपहरी।

शब्द और रंग

(एक)

आज की रात
आकाश में है भरा-पूरा चाँद
सागर के अनंत विस्तार पर
तनी हुई है चाँदनी
आज सारी रात
हम सुनेंगे
सागर-संगीत की विविधता
हम गौर से सुनेंगे
एक-एक सिम्फनी के छोटे-छोटे नॉट्स

सारी रात गिनेंगे हम
लहरों पर नाचती
एक-एक चाँदनी
जो कर रही है पैदा
जादुई करिश्मा
प्रतिक्षण प्रतिफल
बुन रही
मायावी संसार का जाल
हम खोज रहे हैं शब्द
सहायता करना, मित्रों
शब्द ढूँढने में
सहायता करना
रंगों के माध्यम से
भाषा की तलाश में
ऐसी भाषा
जो अभिव्यक्ति कर सके
सागर-सौंदर्य
अभिव्यक्ति कर सके
मेरे हृदय की भावनाएँ
बहुत आसानी से छू सकें जिन्हें
तुम्हारी कोमल पतली उंगलियाँ
आज हम
बैठेंगे सारी रात
एक दूसरे की उपस्थिति का

करते हुए सार्थक अहसास
एक दूसरे के जीवन की
किताबों की खाली
जगह पर
लिखते हुए एक नई कविता
भरते हुए
उदासी के कई रंग

(दो)

बीत गई न रात
हाँ, बीत गई
देखिये न, थोड़ा उधर देखिये
पंछियों का एक बड़ा-सा झुंड
समुद्र की लहरों को छूता हुआ
अभी-अभी
गुजर गया है पूरब की ओर
घोल गया लहरों में
हलचल और कलरव का संगीत
फैल गया चारों ओर
इसी संगीत की खुशबू
मछुआरे पैठ गये हैं
समुद्र में
छोटी-छोटी नौकाओं के साथ
और सूरज के उगने के पहले की लाली
बिछ रही लहरों पर
निस्तेज हो रहा है
रात भर का चला चाँद
उठिये, चलिये अपने-अपने कमरे में
उठ रहे होंगे
साथ के लड़के और लड़कियाँ
कहेंगे पागल हैं हमलोग
छत पर बैठे रह गये सारी रात
और भी कुछ कह सकते हैं
और भी कुछ.....।

संपर्क : 08051752834

राजल

चाँद 'शेरी'

पाकर चन्दन तन की खुशबू
महकी घर आँगन की खुशबू
लेकर आई रुत मतवाली
अधरों से चुम्बन की खुशबू
मीरा के गीतों - छन्दों से
आती है मोहन की खुशबू
सूखे बरगद से भी एक दिन
आएगी सावन की खुशबू
बाक़ी है टूटे रिश्तों में
बरसों के बन्धन की खुशबू
मेरी साँसों में है 'शेरी'
मेरे निर्मल मन की खुशबू

आज का राज़ां हीर बेच गया
हीरे जैसा ज़मीर बेच गया
इक कबाड़ी को वो निरा जाहिल
मीर - तुलसी - कबीर बेच गया
सोने - चांदी के भाव व्यापारी
दे के झाँसा कथीर बेच गया
इक कबीले की शान रखने को
अपनी बेटी वज़ीर बेच गया
बाप - दादा की उस हवेली को
एक अय्याश अमीर बेच गया
कह के 'शेरी' उसे चमत्कारी
कोई पत्थर फ़क़ीर बेच गया

संपर्क : के-30, आई.पी.आई.ए., रोड नं. 1, कोटा- 324005 (राज.), मो. 09829098530

डॉ. नलिन

मीत बचपन का मिला जबसे
हो गया बच्चा हृदय तब से
तुम तनिक उसको मना लेना
जा रहा जो रूठ कर सबसे
प्यार से ब्या आपने देखा
साँस आने लग गई ढब से
मन छुआ, फिर हो गया ओझल
ढूँढते फिरते उसे कब से
वास्तविकता जानते हैं हम
हम भ्रमित होते नहीं फब से
ठानते हैं चोट खा खाकर
हम न जाएंगे वहाँ अब से
जी रहा सचमुच यहाँ जीवन
सच बता दे तू नलिन कब से

वेदना का मान करते हैं
आँसुओं में ले न फिरते हैं
आप जानेंगे नहीं बैसे
वक्ष पर पाषाण धरते हैं
लोग मरते और जीते भी
हम न जीते हैं न मरते हैं
आँधियों से वन डरें क्योंकि
ये सजे उद्यान डरते हैं
टूट सकता मन नहीं अपना
आस से हम प्राण भरते हैं
रह रहे हो दूर लहरों से
हम भँवर के बीच तिरते हैं
कब 'नलिन' गिरता गिराने से
यों सभी तो आप गिरते हैं

संपर्क : 4 ई, 6 तलमंडी, कोटा- 324005, मो. 09413987457

रेखा कुमारी

शोध-छात्रा

पटना विश्वविद्यालय,

अंतर्यात्रा

जाना चाहती हूँ
पर्वत की उस अधित्यका पर
जहाँ मृत्यु ही जीवन है।

मृत्यु अपने प्रवाह में
बहा ले जाती है सब कुछ
और देती है त्राण
समस्त दुःखों से।

जीवन की निष्फलता
और उद्देश्यहीनता
पहुँचा देती है हमें
नरक के उस कुंड में
जिसमें छटपटाते रह जाते हैं हम
उलझते जाते हैं निकल नहीं पाते।

मिलती है तथाकथित मुक्ति
जब मृत्यु आती है पास
अपनी बाहों में भरकर
दुलारकर, पुचकारकर ले जाती है हमें
समस्त उलझनों से दूर।

दो अखाल/ गार्जोक्ति

किसी ने पूछा मुझसे
अपने बारे में कितना जानते हो ?
मैंने कहा- मुझे जानने वालों से ज्यादा।
उसने फिर पूछा
औरों के बारे में कितना जानते हो ?
मेरा जवाब था- उनकी सोच से ज्यादा।
फिर उसने कोई सवाल ही नहीं किया।

जिंदगी

ये जिंदगी क्या है ?
किसी का भेजा हुआ अनमोल उपहार
या किसी का दिया हुआ कोरा कागज
जिस पर लिखना है हमें कोई इतिहास !

यों तो लिखने को बहुत कुछ है
कोरी चिट्ठियों में
जिसे हम जिंदगी का नाम दें
और जो अंकित हो वक्त के पत्थर पर
पर हम ऐसा कुछ क्यों न लिखें
जो बेसहारों का, श्रम से कातर जीवों का,
अश्रुपूरित नेत्रों का, ममताविहीन प्राणों का
या टीस देते घावों का..... मलहम बने।

जो आराम की उम्मीद लिये
देखते हैं मेरी ओर कातर नेत्रों से
चिट्ठी तो ऐसी भी है जिसके बदन पर
दास्तां लिखा जाता है काले अक्षरों में
हम स्वर्ण चंदन-सा चमककर और दमककर
अपने ज्योतिपुंज से रास्ता दिखा उन अक्षरों को
मिटा देंगे उनके विषाक्त काले वेदना को
सीप का मोती बना देंगे जतन से
मुस्कुरा भर लेंगे अपने उर-अंकों में,
जिंदगी का नाम देके।

संपर्क : 9051362071

चंपा

रामदरश मिश्र

कल काम वाली नहीं आयी थी। उसका ससुर कह गया था कि बीमार है। मैंने कह रखा है कि जब न आना हो तो सूचित कर दिया करो ताकि हम स्वयं समय से अपना काम निबटा लें। यह क्या कि हम इंतजार में बैठे हैं और उधर कामवाली चुपचाप अपने घर में बैठी है। तो इस नसीहत पर अमल करते हुए उसके घर वाले सूचित कर जाते हैं।

तो वह आज आयी थी। वैसे देखा है कि इस वर्ग के लोग एक दिन बीमार पड़ते हैं तो दूसरे दिन ठीक होकर काम पर आ जाते हैं। उसमें इनकी जिजीविषा भी है और मजबूरी भी। शहरी मध्यवर्गीय लोग तो पड़ते हैं तो सप्ताहों बिस्तर से नहीं उठ पाते। उनकी आधी जिंदगी तो दवा खाते बीतती है इसलिए कुछ समय बाद दवा भी काम नहीं करती। करती भी है तो बहुत धीरे-धीरे। किन्तु दलित या पिछड़े वर्ग के लोग तो थोड़ा आराम करके ही या कुछ देशी दवाएँ लेकर ही ठीक हो जाते हैं। अंगरेजी दवाएँ भी उन पर तेजी से काम करती हैं क्योंकि वे उनके अभ्यस्त नहीं होते। तो दूसरे दिन ही वे काम पर निकल पड़ते हैं। दूसरे दिन काम पर निकल पड़ना उनकी मजबूरी भी तो है। यदि वे कहीं काम कर रहे हैं तो मालिक उन्हें दो-एक दिन से ज्यादा की छुट्टी नहीं देता और यदि वे स्वतंत्र काम कर रहे हैं तो काम नहीं करेंगे तो खायेंगे क्या? इसलिए पूरी तरह स्वस्थ न होने पर भी उन्हें काम पर निकल जाना पड़ता है।

तो जब चंपा काम पर आयी तो मैंने पूछा, 'बेटे ठीक हो गयी? क्या हुआ था?'

चंपा बोली नहीं, चुपचाप बर्तन मांजती रही। मैंने अनुभव किया कि चंपा धीरे-धीरे सिसक रही है।

“क्या हुआ रे चंपा। बुखार है क्या? तो क्यों आयी? दो-एक दिन और नहीं आती तो क्या बिगड़ जाता? मैं काम देख लेती।”

चंपा फिर नहीं बोली तो मैं उसके पास चली गयी और उसका हाथ पकड़कर कहा- “जा घर जा। बुखार उतर जाये तो आना।”

वह चीख पड़ी, “छोड़िए, छोड़िए माताजी हाथ छोड़िए।”

मैंने हाथ छोड़ दिया तो देखा उसकी कलाई पर घाव हो गया है।

“ये कैसे हुआ रे?”

वह फिर नहीं बोली तो मैं गुस्से से चीख-उठी- “बताती क्यों नहीं?”

“मारा है।” उसने रोते हुए कहा।

“किसने?”

“सास जी ने। यहाँ भी मारा है, यहाँ भी मारा है।” कहकर उसने गरदन उठा दी। वहाँ भी घाव हो गया था।

“बड़ी चुड़ैल है रे तेरी सास। आती है तो मैं बताती हूँ। बड़ी सास की दुम बनी हुई है।”

“नहीं माताजी, वे और भी गुस्सा हो जायेंगी। कहेंगी कि सब जगह मेरी शिकायत करती फिरती है। यह मेरे घर का मामला है, बाहर का कोई आदमी कुछ नहीं कर सकता, कर सकता है तो अपना मरद, लेकिन वह खुद ही दब्बू हो तो वह अपनी बीवी का बचाव क्या करेगा?”

“लेकिन यह सब देख-सुनकर मेरा मन बहुत बेचैन हो उठता है। मन तो करता है कि तुम्हारी सास रानी पर पुलिस केस करवा दूँ। पुलिस के डंडे जब उसकी पीठ पर पड़ेंगे तब सीधी हो जायेगी लेकिन.....।”

“हाँ माताजी लेकिन को लेकिन ही रहने दीजिए।”

चंपा अपने काम में लीन हो गयी। मैं भी वहाँ से हटकर अपने काम में लग गयी। फिर मैंने अपने लेखन कार्य में तल्लीन होना चाहा। लेकिन तल्लीन नहीं हो पायी। रह-रहकर चंपा की दुर्गति मुझे छेड़ती रही। चंपा की सास चंदा भी मेरे घर काम कर चुकी है। हम लोगों के सामने बहुत सुशील दिखती है। वह तो मुझे देखकर सिर पर पल्ला ले लेती है जैसे मेरी देहाती बहू हो। बातचीत भी ढंग से ही करती है लेकिन वह औरों के साथ भी ऐसा करती है यह नहीं लगता। मेरे यहाँ काम करने आती थी तो मोहल्ले के घर-घर के समाचारों का पुलिंदा उसके पास होता था। हमारे घर में भी जब वह काम कर रही होती थी और हम लोग कुछ बात कर रहे होते थे तो वह काम रोककर हमारी बात सुनती थी। इसलिए हम लोग उसके सामने अपने या दूसरे के घर की ऐसी कोई बात नहीं करते थे कि वह उसके लिए समाचार बन जाये। मैंने उसे हड़का भी रखा था- “देख चंदा, तू सबके घरों की बात लाकर यहाँ छींटती है, अगर मेरे घर की बात कहीं कही न तो

मुझसे बुरा कोई नहीं होगा।”

“नहीं माताजी, मैं आपके घर की बात कहीं नहीं कहती हूँ।”

तो चंदा अब सास बन गयी है और दादी भी। सास भी ऐसी-वैसी नहीं बहुत जालिम सास। अब चाहती है कि घर में बैठकर आराम करे और बहुएँ और बेटे कमा-कमा कर लायें और उसे देती रहें। पति कुंजू रिक्शाचालक है ही, बड़ा बेटा मोहन भी रिक्शाचालक है। उसकी पत्नी चंपा भी चौका-बरतन करती है। फिर भी चंदा के हाथ उस पर छूटते रहते हैं। मोहन यह सब देखता है किंतु मातृभक्ति के संकोच में कुछ नहीं बोलता है। चंपा किसके बल पर प्रतिरोध करे। चंदा उसे डंडे से या अरतन-बरतन चलाकर पीटती रहती है। वह बेचारी सुबह-सुबह अपने छोटे बच्चों को घर पर सास के भरोसे छोड़कर कोस भर दूर की बस्ती में काम-धाम करने चली आती है। बीमार हुई तो भी उसे उन अनेक घरों में भी काम करना ही पड़ता है जिन घरों के काम सास चंदा ने ले रखे हैं। चंपा बेचारी को सारे पैसे सास को सौंप देने होते हैं, अपने लिए कुछ नहीं रख पाती। मैंने तो कई बार कहा कि तुम लोग सास का मकान (हाँ उसे सास ने ही बनवाया है) छोड़कर अलग क्यों नहीं हो जाते। किंतु वह कुछ बोलती नहीं है। तो मैं इस घरेलू हिंसा के समाचार प्रायः सुनती रहती हूँ और पीड़ित तथा क्रोधित हुआ करती हूँ। घरेलू हिंसा के न जाने कितने आयाम हैं, कितने क्षेत्र हैं, कितने रूप हैं। मैं तो सोचती हूँ कि उच्च वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक घरेलू हिंसा अपने पैर फैलाए हुए है। लेकिन निम्न वर्ग में तो उससे मुक्ति के सहज मार्ग भी हैं। यहाँ तो स्त्रियाँ अपने पाँव पर खड़ी होती हैं। उन पर झूठी नैतिकता और मर्यादा का वह बोझ भी नहीं होता जो मध्यवर्गीय स्त्रियों के सिर पर होता है। उनमें भी अधिकांश के मर्द पीते हैं। शराब के लिए पत्नियों के पैसे छीन लेते हैं, उन्हें पीटते हैं किन्तु फिर भी यह क्रम तभी तक चलता है जब तक औरतें सहती हैं। जिस दिन वे चाहती हैं, विकल्प खोज लेती हैं। देखें चंपा कब विकल्प खोज पाती है और कब मैं रोज-रोज सास द्वारा चंपा के पीटने के समाचार सुनने की पीड़ा से मुक्त हो पाती हूँ।

और यह भी कम पीड़ा है क्या कि मैं सास चंदा को इसलिए नहीं डाँट पाती कि उससे चंपा के प्रति उसका जुल्म और बढ़ जायेगा और आखिर किसी के घरेलू मामले में बाहर का आदमी भला कितना हस्तक्षेप कर सकता है ?

कई दिनों बाद चंपा के चेहरे पर ऊर्जा की दीप्ति देखी। वह काम करते हुए गुनगुना भी रही थी।

“क्या बात है चंपा, आज कुछ नई नई लग रही हो।” मैंने पूछा।

“हाँ माता जी, आज जब सास जी मुझे गालियाँ सुना रही थी तो बड़े बेटे ने कह दिया- “ओ दादी, तू क्यों रोज-रोज माँ को गाली देती है और मारती है। अब अच्छा नहीं होगा।”

“अच्छा तेरी यह मजाल ?” कहती हुई वे बेटे की ओर लपकीं।

मैंने कहा- “माँ जी, बेटे को हाथ न लगाइएगा।”

“अच्छा तो तू ही भोग,” कहती हुई वे मुझ पर चढ़ आईं। उन्होंने मारने के लिए हाथ उठाया तो मैंने उनकी कलाई पकड़ ली। बोली- “बहुत हो चुका माँ जी। अब मुझ पर जो हाथ उठायेगा वह सलामत नहीं रहेगा।” माँ जी मेरे मरद को सुनाकर कहने लगीं- “जोरू का गुलाम, तेरी जोरू तेरी माँ का अपमान कर रही है और तू खड़ा खड़ा तमाशा देख रहा है।”

“तमाशा तो बहुत देख चुका माँ, जो तुम मेरी बीवी-बच्चों के साथ करती आ रही हो।” कह कर वे रिक्षा लेकर चले गये। माँ जी बिलखती हुई गालियाँ देती रहीं। मैं भी काम पर चली आई।

“तो तुम्हें जो पहले करना चाहिए था उसे आज कर ही दिया।”

संपर्क :

आर 38, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली- 110059

मो. 9211387210

व्हाट्सएप

शर्मिला बोहरा जालान

स्मृति रूंगटा के फोन में एक खास तरह की ध्वनि होती है।

ओह 'व्हाट्सएप' ! कौन है ? रोशनी गर्ग।

लिखा है- 'आज दस बजे आपके साथ समय तय हुआ है।'

स्मृति जवाब देती - 'यस'। उसके बाद ढेर सारे फूल जन्मदिन के अच्छे उद्घरण के साथ फोन की स्क्रीन पर एक के बाद एक आ जाते हैं। केक और उपहार के चित्र भी रोशनी स्मृति को व्हाट्सएप करती है। रोशनी को पता है आज स्मृति का जन्मदिन है। स्मृति काउंसलर है और काउंसलिंग के दौरान स्मृति और रोशनी सहेली बन गई।

स्मृति सोचती है क्यों ? आखिर क्यों ? क्यों रोशनी अपने पति से अलग हो गई। सिर्फ छः वर्षों के भीतर ! इसलिए कि उसका पति शराबी हो गया। 'हो गया' कहना जरूरी है। अगर पहले से ही पता होता तो वह उससे विवाह ही नहीं करती। पर इसलिए भी कहना चाहिए कि रोशनी बनारस में पत्नी-बढ़ी तेज तर्रार सुन्दर लड़की। सम्पन्न और उसका पति ? वह भी सुदर्शन कान्वेंट में पढ़ा लिखा स्मार्ट। पर, पर ! पर ? कैसे कहा जाए ? कहना चाहिए या नहीं। साधारण घर का और पिछड़ी जाति का युवक। स्मृति को उसका पिछड़ी जाति का होना, शराब पीना, मारना, इसमें थोड़ा संबंध दिखाई पड़ता है। पर स्मृति यह भी जानती है कि ऊँचे कुल और खानदान में धनी वर्ग में पले-बढ़े बड़े लोग भी शराबी हो जाते हैं। गाली-गलौज करते हैं और पत्नियों को मारते हैं।

दोनों अलग क्यों हुए ? 'इसलिए' कि दोनों की आर्थिक स्थिति में बहुत फर्क था। विवाह के बाद से ही रोशनी के पति पर बहुत कमाने, गाड़ी और नौकर-चाकर रखने का 'चाप' होने लगा।

रोशनी की दीदी का विवाह बड़े घर में हुआ पति का बड़ा व्यवसाय। बड़े-बड़े लोगों के बीच उठना-बैठना। उसके पति उदय प्रकाश ने रोशनी के पति को कई तरह के सुझाव दिए और नया व्यवसाय शुरू करवाया। रोशनी के पति ने अच्छी भली-नौकरी छोड़ व्यवसाय शुरू कर दिया। पर व्यवसाय के क्षेत्र में कोई अनुभव व प्रशिक्षण न होने के कारण कारोबार चल नहीं पाया। डूब गया। स्नेहा रोशनी के पति की मनःस्थिति और घर के उस समय के परिवेश की कल्पना कर सकती है। बस पति-पत्नी में तकरार हो गई। वह शराबी हो गया और मारने पीटने लगा। जबकि यह

प्रेम विवाह था। फोन में फिर ध्वनि होती है।

स्नेहा चैक करती है। वही व्हाट्सएप। रोशनी काक्वेस्ट 'मॉल' में ली गई कुछ सुन्दर-सुन्दर तस्वीरें हैं। रोशनी और उसकी बेटी अर्चिता की। वाऊ! कितनी आकर्षक है रोशनी। बेटी! उतनी नहीं। शायद बिल्कुल भी नहीं। कितने अच्छे-अच्छे उद्घरण (कोटेशन) भेज रही है।

क्या रोशनी दुखी है? लगता तो नहीं। पर होना चाहिए। तलाक का मामला चल रहा है। क्यों होना चाहिए? नार्मल भी हो सकती है।

स्नेहा 'व्हाट्सअप' बंद कर देती है।

पर। पर यह कहानी 'इसलिए' तो नहीं लिखी जा रही है। फिर किसलिए?

रोशनी की बेटी अर्चिता के लिए.....।

रोशनी अर्चिता से कहती है तुम्हारी लिखावट देखकर लगता है कॉपी पर तिलचट्टे रेंग रहे हैं। आह अर्चिता तुमने गृहकार्य पूरा नहीं किया। अर्चिता तुम्हारा कोई भी सामान सही जगह पर नहीं मिलता। अर्चिता अपनी मम्मी की इन बातों पर ध्यान न देकर अपनी डायरी लिख रही है।

16.01.2013

मेरी आँखें मेरी माँ की तरह की हैं। पर मेरी आवाज, मेरे सुर। नानी के घर में कोई भी गाना नहीं गाता। ये सुर बुआ से मिला होगा? पापा से। हाँ पापा और बुआ दोनों को गाना गाते सुना है। पापा! पापा तुम कहाँ हो। पापा कहाँ हैं? मुझे पापा के साथ खाया माछ-झोल याद आ रहा है। मुझे पापा के साथ मटन खाना है। और चिकन सैंडविच भी खाना है।

रोशनी की बेटी अर्चिता। पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगता पर डायरी लिखना नहीं भूलती। 'विम्पीज की डायरी' पुस्तक पढ़ना बहुत पसंद है। वह अपनी सहेली रेचेल सोफेट से कहती है- तुम अपनी दादी और पापा के साथ रहती हो ना? पर मैं अपनी नानी के साथ रहती हूँ। नानी का घर मेरा घर नहीं है। मेरी नानी पूजा-पाठ करने वाली धार्मिक महिला है। वे सिर्फ घास-फूस पकाती हैं। शाकाहारी भोजन। पर मम्मी तो मटन खाती हैं। घर में नहीं, बाहर। पापा ने खाना सिखाया था। मुझे पापा से मिलना है। पापा बहुत अच्छे हैं। पापा कहाँ हैं? हम साथ क्यों नहीं रह

सकते?

अर्चिता अपने पापा के पास पाँच वर्ष रही। फिर पाँच वर्ष बाद मिली। इन पाँच वर्षों से तलाक का केस चल रहा है।

अर्चिता पापा से मिलना चाहती है। पापा से मिलेगी तो पूछेगी कि वे उसके बिना कैसे रहते हैं? कैसे रह सकते हैं? मम्मी अच्छी नहीं है तो मम्मी को छोड़ दीजिए पर अर्चिता को नहीं। अर्चिता पापा से मिलने पर कहना चाहती है कि पापा मैं आपके साथ रहना चाहती हूँ। मैं ग्यारह साल की इस साल हो जाऊँगी। मुझे ठाकुर माँ (दादी) बहुत याद आती है। उनका घर याद आता है। मुझे रसोई से उठने वाली सुगंध बहुत अच्छी लगती है। पापा मैं आपके साथ चलूँगी।

अर्चिता की जिद के कारण रोशनी ने वकील से बात कर अर्चिता से उसके पापा से मिलने का समय तय किया।

अर्चिता और उसके पापा बालीगंज सर्कुलर रोड के कॉफी कैफे डे के बगल में स्थित 'मअमअमियाँ' में बैठे हैं जहाँ आइस्क्रीम और डेजर्ट्स मिलते हैं। अर्चिता को वहाँ मिलने वाली चॉकलेट आइस्क्रीम बहुत पसंद है। दोनों चुप हैं।

अचानक पापा कहते हैं तुम्हें अर्चिता क्या चाहिए? क्या तुम्हारे पास लैपटॉप है? क्या पीसी-३ चाहिए बोलो? देखो, मेरे पास बहुत समय नहीं तुम्हें जो चाहिए वह मैं भेज दूँगा। और यह मिलना मुझे पसंद नहीं। वह भी जल्दी-जल्दी। ऐसा करो। तुम्हें जो खाना है तुम बैठकर खाओ। मैं कॉउंटर पर बोल देता हूँ। पेमेंट की चिंता मत करना जो मन है खाना। मुझे जाना होगा.....।

25.01.2013

अर्चिता डायरी खोलकर बैठी है-

पापा से मिलना हुआ। पापा जल्दी आ गए समय से पहले। चले भी गए। समय से पहले। पापा ने पूछा- क्या चाहिए? पापा ने यह नहीं पूछा- कैसी हो अर्चिता। पापा बहुत अच्छे थे। बचपन में। पर अजीब से हो गए हैं। पापा। मुझे पापा से नहीं मिलना।

पर यह कहानी अर्चिता की डायरी दिखाने और रोशनी गर्ग के 'व्हाट्सअप' को दिखाने के लिए तो नहीं लिखी जा

रही।

तो फिर किसलिए लिखी जा रही है?

स्मृति रूंगटा के अन्य काउंसली के बारे में बताने के लिए। शायद....

स्मृति 'मैजिक हाउस' सेंटर में बैठी अपने दूसरे काउंसली के बारे में सोच रही है—

रीतेश चौधरी! वे जब अपनी बेटी से मिले उन्होंने उससे यह सब नहीं पूछा कि लैपटाप है या नहीं, पीसीपी-3 है या नहीं। बस खरीद दिया। सब कुछ। बहुत कुछ। अपनी बेटी अनुष्का से मिले। बहुत प्यार किया कहा ठीक से रहना और व्हाट्सएप करती रहना।

ये रीतेश चौधरी कौन है? कहाँ से आ गए इस कहानी में? क्या पहले से ही मौजूद नहीं थे? इसलिए कि वे भी अपनी पत्नी से अलग हुए पड़े हैं। बीस वर्ष के विवाह के बाद एक समाज के ये दंपति वकीलों के चक्कर काट रहे हैं। तलाक के लिए। और अनुष्का? वह उनकी अपनी संतान कहाँ है? गोद ली हुई संतान है। किसी संस्था से। बहुत लाड-चाव से दस वर्ष तक उसे रखा। फिर? पति पत्नी ना जाने क्यों दूर में हो गए? पति किसी और के साथ साउथ सिटी मॉल में दिखाई देने लगा। पत्नी किसी और को व्हाट्सअप करने लगी। किसी और के साथ बिग बाजार में ट्रॉली पकड़ घूमने लगी।

स्मृति का ध्यान फिर अपने फोन पर जाता है। उसके एक दोस्त ने अच्छे पति और अच्छी पत्नी के गुणों की सूची उसे व्हाट्सअप की है। स्मृति पढ़कर मुस्कुरा देती है।

रीतेश चौधरी आज उससे मिलने वाले हैं। वह उनके केस पर ध्यान देती है।

क्या हुआ? क्यों? रीतेश। देखने में अच्छे। पत्नी मालविका भी उतनी की सुंदर। लगता है बने हैं 'एक-दूजे के लिए'। पर? दो दशक के बाद दोनों अलग होने के लिए छटपटा रहे हैं? दोनों का मन इतनी दूर कैसे हो गया? छोटी-छोटी बातों की कड़ी मिलाई जा सकती है। रीतेश की माँ का स्वभाव अच्छा नहीं रहा। रीतेश का व्यवसाय फला-फूला नहीं। और ... मालविका छात्रावास में पढ़ी-लिखी अपने निर्णय स्वयं लेने वाली अलग तरह की लड़की।..... ससुराल का संयुक्त परिवार का

जीवन.....।

पर यह कहानी रीतेश चौधरी और मालविका के अलग होने के कारणों को गिनाने तो नहीं लिखी जा रही....।

फिर?

शायद इसलिए लिखी जा रही है कि—

अंकिता सुराना से कुछ पूछना चाहती है। यही कि तीन संतानों के जन्म के बाद विवाह के पंद्रह वर्षों के बाद आखिर क्या हुआ जो एक प्रतिष्ठित घर की लड़की अपने नंदोई से विवाह कर दूसरे शहर चली गई। तीन संतान अपनी ओर दो दूसरे पति की पहली पत्नी की।

पाँच-पाँच बच्चों का भार।

अंकिता का पति भी उजड़ा और उसकी बहन भी।

क्या हुआ.....।

यह कहानी इसलिए भी तो नहीं लिखी जा रही कि एक के बाद एक उन दंपतियों की कथा कहे जिनका वैवाहिक जीवन टूट गया है।

यह कहानी क्या मानसी दूबे की कहानी बताने के लिए है जो रहती तो पति के साथ है पर अपने कॉलेज के दोस्त को व्हाट्सअप करना नहीं भूलती। कैसे? वैसे व्हाट्सअप जैसे उसे किए जाए जो दोस्त से ज्यादा हो यह कहानी भी इसलिए भी लिखी जा रही है कि यह बताए राजेश और कविता ने पाँच वर्ष के प्रेम के बाद घरवालों के विरुद्ध जाकर विवाह किया पर कुछ वर्ष बाद पड़ोसियों से यह खबर मिलने लगी कि वह रात में घर पर नहीं सोता। कविता ने अपने बेटे को छात्रावास में डाल दिया है और स्वयं नौकरी ढूँढ ली है।

यह कहानी किसलिए है!

उन आदर्श दंपतियों की कथा कहने के लिए भी नहीं है जिन्होंने शादी की रजत जयंती मना ली है। स्वर्ण जयंती मनाने की पूरी संभावना है।

कृपया बोर ना होएँ, थोड़ा धीरज रखें क्योंकि

यह कहानी दिविना उन दिनों को याद करके लिखवा रही थी जब वह पहली बार देवांश से मिली थी। और मिलने लगी थी। लगता था चारों तरफ रंग-बिरंगी तितलियाँ मँडरा रही हैं। लगता था वह हल्की हो गई है। लगता वह उड़ रही है। लगता था सारी दुनिया तितली बन गई है।

लगता था जिन्दगी फूल के समान हल्की और सुगन्ध से भर गई है। लगता था.... पता नहीं क्या-क्या लगता था।

यह कहानी इसलिए भी है कि रीतेश और ऋतिका दोनों एक-दूसरे को पाकर बहुत खुश थे। फिर दोनों एक-दूसरे से बोर होने लगे।

स्मृति 'मैजिक हाउस' सेंटर में बैठी है। उसके पास एक के बाद एक कई लोग आते हैं। खोलकर रख देते हैं अपना मन। खनन पर खनन चलता है। अन्दर और अन्दर गहरे और गहरे उतरना पड़ता है। ये लोग नदी की धार पर चलते मालूम पड़ते हैं। अब गिरे, तब गिरे...

स्मृति चैंबर की बत्तियाँ बंद कर देती है। ए.सी. को रिमोट से पहले ही बंद कर चुकी। अचानक फोन में ध्वनि

होती है 'व्हाट्सअप' है किसका ?

शैलेश का। लिखा है-

“मिलो। कहाँ हो ? कब मिलोगी ?”

स्मृति याद करती है दस वर्ष हो गए शैलेश को इंतजार करते हुए। शैलेश ने आज तक विवाह नहीं किया और स्मृति जिसका एक पाँव टेढ़ा है, वह ठीक से चल नहीं पाती इस दुविधा में है कि शैलेश को 'हाँ' कहे या 'ना'। शैलेश के घरवाले इस शादी के खिलाफ हैं। स्मृति छटपटा जाती है मैजिक हाउस की बत्तियाँ बंद कर चुकी है और ए.सी. भी। उसे गर्मी लगने लगती है वह झट से शैलेश को जवाब देती है- टाइप करती है 'आई डोंट नो' व्हाट्सअप क्लोज्ड।

संपर्क :

6, रिच रोड (नजदीक मेडोक्स स्क्वायर), पिन- 700019,
मो. 9433855014

रोज-रोज

डॉ. सविता मिश्र

पिछले तीन हफ्तों से लगातार ठंड से जिंदगी जैसे जम-सी गई है। कॉलेज जाने के लिए घर से बाहर कदम रखा तो कोहरा बरस रहा था। सामने जितू को खड़ा देखकर ताला लगाते-लगाते मेरे मुँह से बरबस ही निकल पड़ा, बहुत हो गया। आज तो धूप को बुला ही दो जितू।

‘हाँ आंटी, फोन किया था पर स्विच ऑफ आ रहा है।’

बड़ी ही गंभीरता से उसने जवाब दिया।

‘किसे फोन किया था जितू?’ मैं कुछ समझ नहीं पायी और सच कहूँ तो इतने गंभीर स्वर में इतनी हाजिर जवाबी की उम्मीद भी मुझे नहीं थी। वैसे भी दिमाग, हाथ-पैर सब ठंड से सुन्न हो रहे थे।

‘धूप को...। मासूमियत से उत्तर देते हुए उसने कहा तो बरबस ही मेरी हँसी छूट पड़ी। जनवरी की कोहरे भरी सुबह कुछ और खूबसूरत हो उठी।

सड़क पर रोज की तरह जलते हुए अलाव, दीनू की बड़ी-सी कड़ाही में रेत में भुनती मूँगफली की खुशबू... घड़ी में देखा 9:30 हो रहे थे। 9:40 पर क्लास है... यानी कि मूँगफली खरीदने का भी समय नहीं है। काम के समय खुशबुएँ बेमानी हो जाती हैं, अलाव की आँच फीकी पड़ जाती है। मन तो करता है कि रिक्शे से उतरकर अलाव के पास खड़ी हो जाऊँ, कुछ देर...पर मन की सुनने से तो जिंदगी चलने से रही...।

कॉलेज में रोज की तरह वही ठंड का हड़कंप मचा हुआ था। असेम्बली के समय ग्राउंड में खड़ी मिस रूमा, मिस मोहन्ती, मैडम उस्मानी, मैडम राय, मैडम पाण्डेय किसी आतंकवादी से कम नहीं लग रही थी। लम्बे-लम्बे कोट, हाथों में दस्ताने, सिर पर मफलर और कैप... चेहरे पर केवल आँखें चमक रही थीं। इतनी ठंड में भी चीफ प्रोक्टर डॉ. राघव के निर्देशन से अपनी-अपनी पोजिशन पर खड़ी थीं सभी। फिजिकल एजुकेशन के प्रैक्टिकल की वजह से छात्राओं की उपस्थिति अच्छी थी। कुल मिलाकर दो बजे तक का समय बीत ही गया। जिंदगी को बीतना है, बीतती ही रहती है रोज-रोज।

वापस लौटते समय धूप कुछ चमकी थी पर गरमाहट बिल्कुल नहीं थी। संयोग से जितू अपने घर के सामने खड़ा मूँगफली खा रहा था- ‘आंटी! फोन मिल गया था। बात हो गई थी। धूप आ गई है...।’ उसकी आँखों में धूप की चमक थी। मैं उसकी इस मासूम अदा पर हँस पड़ी थी। रोज-रोज बीतती जिंदगी को इस तरह की मासूमियत कुछ खुशनुमा बना देती हैं।

घर के अंदर धूप का नामोनिशां भी न था। बर्फ की सिल्ली-सा बिस्तर, सुन्न, हाथ-पैर बस कहीं थोड़ी सी आँच महसूस हो रही थी तो वो स्मृतियों की आँच थी। कल से रह-रहकर अल्पना जी की बहुत याद आ रही थी। इतनी ठंड थी कि व्यस्तताएँ गौण हो चुकी हैं। बच्चे दोनों बाहर हैं... कोई शोर नहीं... कोई काम नहीं...। मनपसंद किताबें... गर्मागर्म कॉफी... बेतहाशा ठंड और बीच-बीच में अल्पना जी की यादें...।

‘हैलो! मैं नीलिमा बोल रही हूँ अल्पना जी’

‘अरे वाह नीलिमा जी! कैसी हैं आप?’ अल्पना जी की आवाज में उनकी हँसी का जादू बिखरने लगा था। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में एक साहित्यिक संस्कार है जो उनकी बातचीत में झलक रहा है।

‘मैं ठीक हूँ...। आप कुछ व्यस्त हैं क्या?’ मैंने अपनी शंका व्यक्त की।

‘अभी-अभी घर पहुँची ही हूँ नीलिमा जी।’ दिल्ली जैसे महानगर में जल्दी घर पहुँचने की खुशी उनकी आवाज में खनक रही थी।

‘इस समय तो आप ऑफिस में होती है न...।’

‘आज मैंने हाफ डे ले लिया है- बाबू जी को डॉक्टर के पास ले जाना है...।’

‘तबीयत ठीक नहीं है क्या...।’ मन कुछ चिंतित हो उठा।

‘हाँ, ठीक नहीं कही जा सकती...।’

‘क्यों... क्या हुआ?’

‘ठंड इतनी पड़ रही है न नीलिमा जी कि उनके पैरों की नसें अपना काम ठीक से नहीं कर रही हैं। बाबूजी जब खड़े होते हैं तो ठीक से खड़े नहीं हो पाते... गिर पड़ते हैं। माँ जी तो हर पल छाया की तरह उनके साथ रहती हैं, संभालती हैं। दिन भर तो घर में वहीं दोनों रहते हैं, सर्वेन्ट रहती हैं। हम दोनों तो रात के नौ-दस बजे तक ही पहुँच पाते हैं, ‘दिल्ली की जिंदगी को किसी के सुख-दुःख से लेना भी क्या?’ एक गहरी सांस लेते हुए उन्होंने कहा।

‘ठीक है अल्पना जी! पहले आप बाबू जी को दिखा लाइये, बाद में बात करती हूँ।’

‘अरे! नहीं, नहीं। अभी दस-पन्द्रह मिनट हैं मेरे पास।

हम लोग आराम से बात कर सकते हैं। दस-पन्द्रह मिनट में होने का संतोष भरा स्वर मैंने महसूस किया और राहत की सांस ली। अल्पना जी के पास दस-पन्द्रह मिनट, वे तो हमेशा हड़बड़ी में रहती हैं। महानगर की भाग-दौड़, बॉस की झिड़कियाँ, पारिवारिक दायित्व, बच्चों की समस्याएँ, सास-ससुर की बीमारी, पति के उलाहने और ढेर सारी उलझनों से जूझती, अपने हाथ-पैरों के दर्द को अनदेखा करती हुई सुबह नौ बजे घर छोड़ने के बाद रात तक ही घर पहुँच पाती हैं। घर पहुँचने के बाद घर को अपने भीतर समेटकर, उसी की होकर रह जाती है।

‘और सुनाइये। क्या नया लिखा आपने?’

‘कुछ नहीं नीलिमा जी! महीनों से कुछ नहीं लिखा।’ उनकी आवाज में न लिख पाने की छटपटाहट साफ झलक रही थी।

‘कब लिखूँ नीलिमा जी?’ थॉट्स तो बहुत से हैं पर समय तो नहीं है न। आजकल दामिनी वाली घटना के बाद रूठ डाइवर्ट कर दिए गए हैं। ऑफिस तक पहुँचने में ही बहुत समय लग जाता है। किसी तरह वहाँ पहुँचो तो मेज पर फाइलों का ढेर लगा होता है... एक-एक कर निबटाते रहो- लोगों के कटाक्ष सुनते रहो... कब रात हो जाती है, पता ही नहीं चलता...।

मैं चुप रही थी... उनकी व्यस्तता कोई नयी तो नहीं। महानगर ने तो हमेशा से सभी को भागते-दौड़ते जिन्दगी जीना सीखाया है। जो ठहर गया, उसे पैरों तले रौंद कर आगे बढ़ जाता है महानगर...।

‘रायपुर से किसी पत्रिका का विशेषांक निकल रहा है। फोन आया था... अप्रकाशित कहानी की मांग है। कैसे लिखूँ? समय मिले... तब तो... कोई भी समझना क्यों नहीं चाहता... रात को नौ बजे घर लौटो... एक घंटा माँ-बाबूजी के पास भी तो बैठना होता है, सुबह से तो अकेले रहते हैं न बेचारे...। बस यूँ ही बीत जाता है दिन। दिन रोज ही बीत जाता है नीलिमा जी... रोज ही...।’

मुझे लगा... पूस की ठंडी शाम में फूल की पंखुड़ियाँ धीरे-धीरे झर रही हैं। हर रोज बीतता हुआ यह दिन कितनी खामोशी के साथ हमसे हमारी जिंदगी का एक-एक

दिन छीनता चला जाता है। कितना कुछ ऐसा होता है जो जिंदगी से झरता रहता है निःशब्द और कोई सहेजना वाला भी नहीं होता।

‘दिन तो रोज ही बीत जाता है।’ दिन को न पकड़ पाने के दर्द में डूबी उनकी आवाज का उछाह कम हो चला था जो अभी कुछ पल पहले दस-पन्द्रह मिनट उनके पास होने के अहसास में खनक रहा था। दिन को पकड़कर न रख पाने की बेचैनी को मैं महसूस कर रही थी पर दिन तो बीतने के लिए ही होते हैं न... और अच्छा ही होता है उनका बीतना। पहाड़ से दिन अच्छे कहाँ होते हैं?

‘अल्पना जी! आपकी कलम में जादू है... और तो और जब आप नार्मल बात भी करती हैं तो मुझे लगता है कि कोई कहानी सुन रही हूँ मैं।’ आपको लिखने के लिए सोचने की कोई जरूरत ही नहीं है।’

‘क्या बात है नीलिमा जी। कोई और नहीं मिला क्या आपको बनाने के लिए?’ उन्होंने खिलखिलाते हुए कहा।

‘मैं सच कह रही हूँ अल्पना जी! आपको जब जयपुर में तन्मय ने कविता-पाठ करते हुए सुना था तो उसने कहा था- ‘लग रहा था कि मंच पर साक्षात् कविता उपस्थित हो गई हो।’

‘ऐसा कुछ नहीं है नीलिमा जी! यह तो आप जैसे अपने लोगों का प्यार है मेरे लिए...। ‘वे कुछ भावुक हो उठी थी।’

‘महानगर की जिंदगी रोज कोई न कोई प्लॉट तो दे ही देती है आपको। भाषा पर पकड़ है ही आपकी।’ अभिव्यक्ति की कोई समस्या भी नहीं है आपके सामने तो फिर इतनी छटपटाहट क्यों? मैंने उनका मनोबल बढ़ाना चाहा।

‘कलम उठाने के लिए समय तो मिले नीलिमा जी। पूरा दिन तो ऑफिस में ही समय में बीत जाता है और फिर ऑफिस की पिछले पच्चीस सालों से वहीं कुर्सी... वही काम... वही लोग वही पॉलिटिक्स... कुछ नया नहीं, वही पच्चीस सालों से बस के धक्के... भीड़ में ए.सी. के बावजूद गर्मी में पसीने के भभके... भीड़ का सैलाब... मशीनी जिंदगी... दिन इन्हीं सब में रोज बीत जाता है- रोज ही...।’

इस वक्त कुछ भी उनसे कहना बेकार था...। एक सैलाब था जो बहने के लिए बेकाबू था और मैंने बहने देना

ही ठीक समझा।

‘आपके पास हर साल नये स्टूडेंट्स तो आते हैं नीलिमा जी। कितना कुछ नया होता है आपके पास... हर साल नये चेहरे... नये काम और फिर टीचर और स्टूडेंट का पवित्र रिश्ता... पूरी क्लास में से एक स्टूडेंट को भी अगर आप कुछ दे पायीं तो उसी में कितना संतोष मिलता होगा आपको? काश! मैं भी आपकी तरह शिक्षा जगत से जुड़ी होती।’ उनकी आवाज में उनकी आँखों की नमी महसूस कर रही थी मैं।

अल्पना जी ने अनजाने में मेरी दुखती रग पर अंगुली रख दी थी पर मैं चुप रही। इस समय तो उनको यह अहसास कराना जरूरी है कि यह दिन तो रोज ही बीत जाता है कितना कुछ दे जाता है, कितना कुछ इकट्ठा होता रहता है, उनके मन के भीतर...।

‘सुनिये अल्पना जी! भागते-दौड़ते, घड़ी की सुइयों से लड़ते-झगड़ते, रोज-रोज के सफर में उन्हीं रास्तों से गुजरते हुए कितने अपने हो जाते हैं मील के वही पत्थर...। कितनी किस्मत से मिली है आपको वो कुर्सी... कितने कामों को रहता है आपका इंतजार... कितनी जरूरी है आप औरों के लिए...। कितनी गति... कितनी ऊर्जा, कितनी अदम्य जिजीविषा है आपके भीतर...। कितने काम हैं जो सिर्फ आप ही कर सकती हैं। आप विश्वास करिये अल्पना जी... जिस दिन आप ठहर जायेंगी, वक्त ठहर जायेगा... ऑफिस की वही पच्चीस साल पुरानी कुर्सी उदास हो जायेगी। दिन तब भी रोज बीतेंगे पर ठहरते हुए से... थमे-थमे से।’ और फिर उन दिनों की सार्थकता क्या होगी? पहाड़ से दिनों का बोझ लेकर भी जिंदगी जी सकती है क्या?

अभी, मेरी बात पूरी भी नहीं हुई थी कि अपने चिरपरिचित अंदाज में रोज की तरह दर्शन आ धमकी और मैंने अल्पना जी से रात को बात करने के लिए कहकर फोन रख दिया। अपने नाम के अनुसार दार्शनिक व्यक्तित्व से युक्त...। कभी-कभी तो मुझे लगने लगता है कि बिना कोई डिग्री हासिल किये, जिन्दगी को हमसे बेहतर जानती है। आते ही रोज की तरह शुरू हो गई।

मेम साहब! धूप तो आज भी नहीं निकली। बस दोपहर

में दो बजे के टैम आसमान से उतरी पर जमीन पर नहीं आई। दीवार पर लटक कर रह गई। अब बताओ मेम साहब। धूप तो लटक गई... हम दीवार पर कैसे लटकते? सुकड़े-सुकड़े से घूमते रहे दिन भर।'

उसकी बात पर हँसते हुए मैंने कहा, 'तुम तो अच्छे-अच्छे को पटक देती हो, उस धूप की बच्ची को भी जमीन पर पटक देती।'

'ना मेम साहब ना... हमारे बस का नहीं है ये सब। हम तो इतना जानते हैं कि चाहे धूप हो या न हो, बादल हो या पाला पड़े, लू हो या बारिश हमें तो काम पे जाना ही है। पच्चीस बरस पुराना काम है मेम साहब। रोज सुबह छः बजे घर छोड़ देती हूँ, रात को नौ बजे से पहले कभी घर नहीं पहुँचती। दिन भर मालिकों के ताने सुनों... अपना हाड़ गलाओ, रात को मरद की गाली सुनो... सुबह नीली पड़ी देह के साथ काम पे निकल पड़ो... पर कोई चिंता नहीं, भगवान जी से कोई शिकायत नहीं... गिरस्ती पालनी है... दिन भर मस्त रहती हूँ, हँसती-बोलती हूँ... दिन रोज ही बीत जाता है... रोज ही...।'

मन ही मन में दर्शन की हिम्मत की दाद दे रही थी। देह में उठती झुरझुरी से अनायास ही मेरे मुँह से निकल पड़ा। 'बहुत ठंड है दर्शन...।'

'हाँ, मेम साहब! आज तो ठंड के कारण सड़क पर भी सन्नाटा है... कोई दिखाई नहीं दे रहा है।'

'तुम्हें खाली सड़क पर डर नहीं लगा?'

'डर कैसा मेम साहब? अब तो पचास की उमर पार कर ली है... जब थोड़ी उमर थी... एक जमाने में तो रूप भी चढ़ा था थोड़ा-बोत... तब भी किसी की हिम्मत नहीं थी।' उसके चेहरे पर अद्भुत तेज झलक रहा था।

'फिर भी ध्यान रखा करो... दर्दि उमर नहीं देखते। अपनी सुरक्षा अपनी ही होती है दर्शन।'

'जब हम छोटे थे मेम साहब! तब थोड़ा डर लगता था। उस टैम माँ समझाती थीं... 'डर कैसा? मौसम बड़े बेदर्द होते हैं बिटिया... अपने-अपने टैम पे आवेंगे, जावेंगे। इनसे डरने की जरूरत नहीं है तुम्हें...। इनकी तरह तुम भी अपने टैम का ध्यान रखो। यह जिंदगी तो भगवान ने दी है, जैसा चाहेगा, वैसी रखेगा। तुम काम पर जाओ बिटिया। किशन कन्हैया तुमाये पीछे-पीछे चलत रहेंगे।'

मैं चुप हो गई थी... कितना ज्ञान... कितनी निडरता कितना सरल जीवन-दर्शन? मन उसे और उसकी माँ को प्रणाम कर रहा था।

वह बिना रुके बोलती जा रही थी- 'माँ की सीख तभी से मन में समाया गई है मेम साहब! मैं जहाँ भी जाती हूँ, मेरे पीछे-पीछे बंसी वाला चलता रहता है मेम साहब।' उसकी भोली सी सूरत, उसकी हँसी में डूबी, उसी से बतियाती चलती रहती हूँ मैं भी।'

वह मुस्कुरा रही थी। उसके विश्वास के सामने मेरा हर विश्वास मानो बौना होकर रह गया था। सचमुच, इतना अटूट विश्वास ही तो जरूरी होता है जिंदगी जीने के लिए।

दर्शन के हाथ मशीन की तरह चल रहे थे। वह रोज की तरह ही गुनगुना रही थी। चाय पीते हुए मैं उसके गीत के बोल में डूबी हुई थी कि अचानक मेरी तंद्रा भंग हो गई- 'मेम साहब! बड़ी मुश्किल से जिंदगी मिली है। भगवान की पूजा की तरह बितानी चाहिए... सच्ची सिरधा से... दिन भर सांस लेने की फरसत नहीं मिलती। मैं तो रात को चारपाई पे लेट के यही कहती हूँ- 'भगवान जी। मेरे दिन तो रोज-रोज ऐसे ही बीते...।'

मैं चुप थी... सोच रही थी दिन तो रोज ही बीतते हैं, सबके अपनी-अपनी तरह से। पर इन बीते हुए दिनों को कौन किस तरह से पकड़ता है, किस तरह से फिसल जाने देता है, यह तो वही जाने...।

संपर्क :

292/10, 'शांति निकेतन', साहित्य विहार, बिजनौर,
उ.प्र., मो. 9719659317

असमिया कहानी

धरती का अंतिम स्टेशन

मूल: मनोज कुमार गोस्वामी

अनुवादक : किशोर कुमार जैन

दूर से ही 27 नम्बर डाउन ट्रेन की सीटी सुनाई दी। विनोद बिहारी के सैलून के आईने में हरिदास ने जल्दबाजी में अपना चेहरा देखा। बाल करीने से कंधी किये हुए थे, दाढ़ी चिकनी बनी हुई थी। (हाँ, यह अलग बात है कि विनोद बिहारी की दुकान में उसका उधार चलता था।) ऐसे तो हरिदास मूर्ख नहीं लगता था और न ही धूर्त दिखायी देता था। उसका चेहरा-मोहरा सतर्क आँखें, पतली गर्दन, गिलने पर कंठ, इंजन के पिस्टन की तरह ऊँचा-नीचा होता था, कमीज साफ-सुथरी, बाहों की सिलाई मामूली-सी उधड़ी हुई, केवल उसकी पतली कमीज से जाले में मछली पकड़ने वाले जाल की तरह दिखायी देती उसकी बनियान किसी को भी बेचैन कर देती थी। अंगुलियों से उसने धीरे से अपने बालों को ठीक करते हुए अंतिम स्पर्श किया। सैलून से निकलकर वह जल्दी-जल्दी चलते हुए सीढ़ियों से स्टेशन के ऊपर वाली ब्रिज पर चढ़ गया। तीन नंबर प्लेटफार्म पर यात्रियों की भीड़ थी। धीरे-धीरे ट्रेन स्टेशन के अंदर आ रही थी। इंजन की आवाज धीमी थी क्योंकि यात्रियों की हड़बड़ी व शोरगुल क्रमशः बढ़ता जा रहा था, स्टेशन केवल इस तरह दिखायी दे रहा था जैसे किसी गरीब की ऊबासी की तरह इंजन का धुआँ आसमान की तरफ उड़ रहा हो। तीन नंबर प्लेटफार्म कौन-सा है? एक व्यक्ति जिसकी गोद में, गर्दन से लटकाये बच्चे व कंधे व हाथों में सामान लटकाये हड़बड़ाते हुए हरिदास को पूछा? 'इधर से उतर जाओ, वो खड़ी है आपकी गाड़ी।' उसके बाद अलसाते हुए ओवरब्रिज की रेलिंग का सहारा लेकर हरिदास ने अपनी जेब से आधी बुझी हुई सिगरेट निकालकर जलायी और नीचे के प्लेटफार्म पर क्रमशः बढ़ती जा रही हलचल को देखता रहा।

आज हरिदास का मन उदास है। पिछले कई दिनों से उसके दिन खराब चल रहे हैं। नेपाली मंदिर के पास बाघ की खाल पर बैठे एक बूढ़े ज्योतिषी ने कुछ दिन पहले हरिदास का हाथ देखते हुए कहा था- 'तुम्हारे अच्छे दिन फिर आ रहे हैं बाबा, तुम्हारा बृहस्पति अमुक, शनि तमुक में खड़ा है। शुक्र को तो मैनेज कर लिया जाएगा। लाओ, अब पन्द्रह रुपये देकर जाओ।' साला, पाखंडी, ऐसे ही पंद्रह रुपये ठग लिये। परसों रात को प्रसाद की गल्लामाल की दुकान में जब राशन उधार लेने गया तो उसने भी पहले के बकाया पैसों का तगादा करते हुए जलीकटी सुनाई, गाली-गलौज की। हिलाते हुए कहा- 'क्यों, खूब माल कमा रहे हो' साले....। आजकल दिखाई देना भी बंद कर दिया। जितनी जल्दी हो सके डेढ़ सौ रुपये पटक जाना नहीं तो लॉकअप में बंद कर दूंगा सू..... का बच्चा। लेकिन हरिदास सोचता है- कितने खराब दिन

आ गये हैं, कोई चांस नहीं मिल पाता है आजकल, लोग खूब सावधान रहने लगे हैं, धंधा एकदम मंदा हो गया है। लड़के को स्कूल भेजना था, उतने रुपयों का भी जुगाड़ नहीं हो पाया था। पत्नी की बीमारी भी ठीक नहीं हो रही, एक अच्छे डाक्टर को दिखलाना था। कितना-कितना विश्रुंखल, सबकुछ लुटा-पीटा, अपमानजनक, घृणनीय जीवन था। ओवरब्रिज की सीढ़ियों से हरिदास तेजी से प्लेटफार्म की तरफ उतर गया। भीड़ और व्यस्तता। जैसे उसे किसी बात से मतलब ही न हो। यों ही वह डिब्बे के पास चल रहा था। यात्री चढ़ रहे हैं और उतर रहे हैं, फेरीवाले और हॉकर वालों के चिल्लाने की आवाजें सुनाई दे रही हैं। दो उदासीन से दिखने वाले टिकट चेकर, एक बड़े से ट्रंक पर बैठे तीन सेना के जवान, खिड़की के पास बैठी एक लड़की को लोलुप नजरों से ताक रहे हैं। धमाक से एक फेरीवाले ने कोल्ड ड्रिंक्स के बक्से उतारकर रख दिये। 'निजरो दिव्यी आराम कोरे पाखां तलाय बसेसे आर आमरा जे गोरोमें हालुवा होये आसेछि' - किसी एक कंपार्टमेंट के अंदर से तर्क करने की आवाज सुनाई दी। एक मारवाड़ी भद्र पुरुष परिवार सहित डिब्बे से उतरा, हाथ में दो बड़े-बड़े सूटकेस.....।

क्षण मात्र में ही हरिदास की नजरें उस मारवाड़ी भद्र पुरुष पर टिक गयीं। एकदम से भद्र पुरुष पर नहीं....उसके हाथों के सूटकेस पर। उसी तरह जिस तरह महाभारत में अर्जुन ने पेड़ नहीं देखा, नहीं देखा उसकी डाल और पत्तों को, मात्र उसे दिखायी दिया अपना लक्ष्य स्थान चिड़िया की आँखें। पानी की टेप के पास रुककर हरिदास की चौकन्नी नजरें उस मारवाड़ी भद्र पुरुष का पीछा कर रही थीं। दोनों सूटकेस घसीटते हुए प्लेटफार्म के बीच लाकर उसने अपनी थुलथुल पत्नी को तथा दोनों लड़के-लड़कियों को पास खड़ा रहने को कहकर कुली की तलाश में इधर-उधर देखने लगा। हरिदास दो कदम आगे बढ़ गया। मारवाड़ी भद्र पुरुष दोनों सूटकेस छोड़कर लगभग पच्चीस मीटर दूरी पर था। कमर पर हाथ रखकर वह कुली-कुली चिल्ला रहा था। बीच-बीच में वह अपने परिवार पर और लगेज की तरफ सावधानी से देख भी रहा था। और थोड़ी दूर चलकर हरिदास लगभग दोनों सूटकेस के पास आकर

खड़ा हो गया। पाँव की चप्पल के फीते को ठीक करने के बहाने उसने झुककर प्यासी नजरों से देखा- गर्भवती गाय की तरह दो सूटकेस, पुष्ट और भरपूर शरीर। हरिदास सीधा होकर निकटवर्ती सूटकेस की तरफ अपने हाथ बढ़ाने की सोच ही रहा था कि उसे दिखाई दे गया कि मारवाड़ी भद्र पुरुष वापस लौट रहा है, साथ में एक बूढ़ा कुली है....।

'यूज मी' लिखे डस्टबिन के पास हरिदास खड़ा हो गया। सामान्य तौर पर वह हताश था। असमंजस की हालत में वह स्टेशन की विराट घड़ी की तरफ देख रहा था। आज उसे कुछ रुपयों की जरूरत थी, राशन लेना था, बेटे-बेटियों के लिए स्कूल की किताबें लेनी थी, पत्नी के लिए कुछ दवाईयाँ लेनी थी। जीवन में कुछ भी हासिल नहीं कर पाया था हरिदास, चाहा भी नहीं था बहुत कुछ, लेकिन जीवन निर्वाह के लिए एक आदमी को जो थोड़ा-बहुत भी चाहिए था उसे भी पाने में वह नाकामयाब रहा।

एक नयी चारमीनार सिगरेट जलाई हरिदास ने। अंतिम सिगरेट, उसने खाली पैकेट फेंक दी। रेल लाइन की ओर से हमेशा की तरह दुर्गंध फैल रही थी, प्लेटफार्म के ऊँचे-ऊँचे स्तूप, व्हीलर में मिलावटी तेल में तले मद्रासी खाने की तेज गंध फैल रही थी। दो कांस्टेबल अलसाये से खैनी मलते हुए प्लेटफार्म पर टहल रहे थे। खूब उदासीन होकर ऊपर की ओर ताकते हुए टीन की छत पर उसने बड़ा-सा काला धब्बा देखा। स्टेशन के ऊपर फैला हुआ एक विशाल काला वृत्त। यही कोई चार साल पहले की बात थी। स्टेशन की इसी जगह पर अचानक एक जोरदार बम विस्फोट हुआ था। उफ्। कितना भयावह दृश्य था वह। जोरदार आवाज के कारण मानों पूरे स्टेशन में भूचाल आ गया था। क्षण भर में ही कितने शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे, लोगों की चित्कार, आतंकित आवाज इतनी ज्यादा थी कि मानों जितनी एक हजार इंजन के एक साथ चलने पर भी नहीं हो पाती। विस्फोट के कारण उड़ चुकी स्टेशन के छत से काले-काले धुओं का अंबार आसमान की तरफ कुंडली बनाये उड़ रहा था। छत की मरम्मत हो गयी लेकिन वह काला दाग रह गया। आज भी वह दाग देखते ही हरिदास की छाती कांप जाती है। बम पर सबसे पहले

एक कुली की नजर पड़ी थी। लाल कांटों की एक घड़ी, कुछ बैटरियाँ, एक कड़े धातु का आधार, लोगों को कुछ समझने, सावधान होने का समय ही नहीं मिला। उसके पहले ही बम विस्फोट हो गया। बाद में उसके लाल कपड़ों के चीथड़ों से ही उसे पहचाना गया था। एक नंबर प्लेटफार्म पर एक इंजन शटिंग कर रहा था। कोई एक इंजन अचानक रुक-रुककर सीटियां बजा रहा था। एक-एक कर दो आदमी तथा एक भद्र महिला का पीछा किया था हरिदास ने। लेकिन कामयाबी हाथ नहीं लगी। सबके सब खरगोश की तरह सावधान थे। आजकल कोई भी आसानी से अपना सामान नहीं खोना चाहता। प्लेटफार्म की दीवार और खंभों पर रेलवे के अधिकारियों द्वारा लिखी चेतावनी के पोस्टर लटक रहे थे- सावधान, सूटकेस लिफ्टर से सावधान। हाँ, दूसरों के सूटकेस चुराकर ही हरिदास अब तक जिंदा था। वह एक उठाईगीर था, यात्रियों की अन्यमनस्कता और व्यस्तता का फायदा उठाता था। अपने आपको धिक्कारते हुए हरिदास डिब्बे के दरवाजे की रेलिंग पकड़कर खड़ा था। अचानक वह तत्पर हो गया। साफ-सुथरे कपड़े पहने एक दुबला-पतला व्यक्ति बोर्ड पर लगाये रिजर्वेशन चार्ट को देख रहा था हाथ में सूटकेस था। सुन्दर, कीमती सूटकेस। देखने से ही पता चल जाता था कि वह कितना व्यस्त, कितने काम का आदमी था। सूटकेस हाथों में लिये इस बार वह यात्री ह्वीलर के बुक स्टाल की तरफ जा रहा था। सूटकेस आँगन पर रखकर वह पत्रिकाओं, अखबारों पर नजर दौड़ाने लगा। छिपकली की तरह हरिदास धीरे-धीरे उसकी तरफ आगे बढ़ा। उसने एक अखबार खोल लिया था। पहले पन्ने पर सरसरी तौर पर नजर डालकर उसने अन्दर का पन्ना खोल लिया- चेहरे पर गंभीरता थी, किसी प्रकार की चिंता-फिक्र के भाव नहीं थे। हरिदास उसके पास आकर खड़ा हो गया, एक पल में ही, हजारवां हिस्सा भी नहीं लगा होगा, वह वहां ठहरा नहीं चला आया। अब हरिदास के हाथ में था वह सूटकेस।

स्टेशन के मेन गेट से निकलते ही उसे रेल की लंबी सीटी सुनाई दी। मानो वह सीटी उसे बाहर निकलने का का संकेत दे रही हो। सीढ़ियों पर से जल्दबाजी में उतरते

हुए उसने एक और व्यस्त आदमी को लगभग धक्का ही मार दिया। उसके बाद वह लगभग दौड़ता हुआ सड़क पर आ गया। उसके हाथ में सूटकेस था। एक अनमोल संपत्ति की तरह उसने वह सूटकेस- अपने सीने से चिपका लिया। रेल के इंजन की तरह ही उसने सीने में भी कुछ धक-धक कर रहा था। नहीं-नहीं यह जिंदगी भी भला कोई जिंदगी है। डर, उत्तेजना, शर्म, अनिश्चयता अब उसे सहन नहीं होती। उम्र भी बढ़ रही है, बस, अब और नहीं। अचानक हरिदास ने यह निर्णय ले लिया कि आज से सब कुछ खत्म, वह अपनी जिंदगी को अब और बर्बाद नहीं होने देगा। उसके बेटे-बेटी भी अब बड़े हो रहे हैं। जल्द ही अपने बाप के प्रोफेशन के बारे में उन्हें पता चल जायेगा। नहीं, इस तरह हरिदास अपने आपको जलील करके एक अमानुष के रूप में अपना परिचय नहीं देगा। आज से, हाँ आज से ही वह जिंदगी भर के लिए यह सब छोड़ देगा। आज इस सूटकेस में जो भी मिलेगा उसी से संतुष्ट हो जायेगा। इसी से अपना नया जीवन शुरू करेगा, परिवार को लेकर इस शहर से दूर चला जायेगा, इस घृणा भरे कुत्सित जीवन से पीछा छोड़ा लेगा। हो सकता है इस सूटकेस में मामूली सामान ही हो, लेकिन फिर भी संतुष्ट होगा। मानों वह अपने आप में दृढ़प्रतिज्ञ हो रहा हो। हरिदास एक गली में घुस गया। शार्टकट से वह मेन सड़क पर चला जायेगा। अपने अतीत से पीछा छोड़ने के लिए मानो वह खूब आतुर होकर भाग रहा हो, वही अतीत उसे पीछे से जलील कर रहा है, हँस रहा है उसके ऊपर। उससे दूर होने के लिए तेजी से वह मुख्य सड़क की तरफ जा रहा है। धीरे-धीरे शाम का धुंधलका छा रहा था। इसी धूमिल उजाले में गली में छोटे-छोटे लड़के खेल रहे थे, दो थके हुए घोड़े स्थिर खड़े थे, एक मकान की खिड़की से सांध्य वंदना किये जाने की आवाज फैल रही थी- मधु दानव, दारणदेव वरंग, बारे बारिश लोचन चक्र धरं.....।

सिटी बस में चढ़ने के बाद ही उसे राहत मिली। खिड़की के पास बैठकर उसने अपने चेहरे पर खुली हवा लगाने दी। शहर के दोनों तरफ की दुकानों की धुधली रोशनी उसकी आँखों को मायावी लग रही थी। अचानक

गाड़ी रुक गयी, सामने पुलिस की चेकिंग पोस्ट थी। सेना के कुछ जवान गाड़ी में चढ़ गये, सबके हाथों में ऑटोमेटिक रायफलें थीं। 'बक्सा खोलो'— कर्कश आवाज में सेना के एक जवान ने उसके सहयात्री युवा लड़के को आदेश दिया। हरिदास कांप उठा। सीना रेल के इंजन की तरह धड़क रहा था। उसका चेहरा सफेद पड़ गया। जूते की आवाज उसके निकट भी आ रही थी। उसने डरते-डरते सूटकेस की तरफ देखा। 'हे, क्या है इसमें? एक जवान ने अपने पैरों से सूटकेस को टटोला। 'थोड़े कपड़े-लते हैं।' हरिदास को अपनी आवाज भी अनजानी लगी। अगर उसे सूटकेस खोलने दिया गया तो। जबकि उसके पास तो चाबी भी नहीं है। उस लंबे से जवान ने हरिदास को स्थिर दृष्टि से देखा क्षण भर का वह समय भी उसे लगा जैसे अनन्त समय हो गया हो। उसके बाद सारे जवान धड़धड़ाते हुए बस से नीचे उतर गये। हरिदास ने अपने सीने में गहरी सांस भर ली, नहीं, अब और नहीं— उसने फिर से मन-ही-मन अपनी प्रतिज्ञा दोहरायी। अब और कभी भी ऐसी परिस्थितियों का सामना नहीं करेगा हरिदास। एक नयी जिंदगी शुरू करेगा वह। जिस जीवन का हर सबेरा आशा भरा होगा और संभावनामय उजाला भरा होगा, इस तरह कभी भी क्लेश और ग्लानि भरा नहीं होगा.....। पत्नी ने दरवाजा खोल दिया।

शहर के कोने में बसी यह बस्ती तब अंधेरे में डूबी हुई थी। घर के अन्दर केरोसिन लैम्प की मद्धिम रोशनी थी। नीरव-निस्तब्ध, बेटे-बेटी सो गये थे। रसोईघर में चूल्हा जलाकर पत्नी ने हाथ-मुंह धोने के लिए पानी रख दिया था। हरिदास ने अपने हाथों से सूटकेस को घर के आंगन में कोने में रख दिया। दुबली-पतली उसकी बीवी हमेशा उससे डरी-डरी रहती थी। मानो हरिदास अपने दिन भर की व्यथा और अपमान का बदला लेता हो उससे। उसके

सामने उसका कमजोर शरीर कांप रहा था। स्वामी के उपजे उस बेवजह क्रोध और हमले के लिए मानो वह असहाय होकर यह सब कर रही हो। नहीं, आज उसने अपनी पत्नी को आश्वासन भरे अंदाज में अपनी बांहों में समेट लिया। थोड़ी देर बाद दोनों अपने निद्रामग्न बेटे-बेटी के पास बिस्तर पर सो गये। लैप की रोशनी कम कर दी हरिदास ने। दोनों शरीर क्रमशः निढाल हो गये थे। तृप्ति और थकान के मारे उसकी पत्नी की आँखें धीरे-धीरे मूंद रही थी। हरिदास उठकर बैठ गया, गहरी नोंद में सोयी पत्नी के अस्त-व्यस्त कपड़े को ठीक से व्यवस्थित कर दिया। फिर उसने लैम्प के फीते को तेज कर दिया। उजाले में उसने देखा, सूटकेस एक कोने में पड़ा है। हरिदास ने सूटकेस को बिस्तर पर खींच लिया। पलंग के नीचे से भारी भरकम सामान निकालकर रात के उस मद्धिम उजाले में हरिदास टुक-ठाक करते हुए सूटकेस का ताला तोड़ दिया। अंदर मोटा-काला कपड़ा था। हरिदास ने कपड़ा हटाया। उसमें थी एक घड़ी जिसका बड़ा कांटा रुका हुआ था और पतला कांटा उस लाल कांटे की तरफ धीरे-धीरे चल रहा था। पास में कुछ बैटरियां थी, कई लाल-नीले तार थे और एक काला आधार था। हरिदास को याद आयी रेल स्टेशन की घटना। विकट शब्द, आग और घने धुएं की कुंडली, सैकड़ों आदमियों का आर्तनाद, किस तरह आकाश में उड़ रहा था। कुछ ही देर में विध्वंस प्लेटफार्म के चारों तरफ मांस के लोथड़े, क्षत-विक्षत शरीर बिखर गये थे। और कुछ ही देर बाद भयावह रूप से रेल स्टेशन के बम-विस्फोट की तरह एक और विस्फोट होगा प्रचंड शब्द और अग्निपिण्ड की तरह। क्षण भर के लिए बिस्तर पर सोये अपने दोनों बच्चों और बीवी की तरफ देखा हरिदास ने। उसके बाद उस खतरनाक सूटकेस को अपने सीने से लिपटाये उन लोगों के बीच सो गया।

संपर्क : 09864063790

मौत के अंधकार में जीवन की तलाश

शिव कुमार अर्चन

स्मृतियां कभी नष्ट नहीं होतीं और वो स्मृतियां तो कभी नहीं जो जीवन और मृत्यु के प्रश्नों से जुड़ी होती हैं। जिसमें जुड़े होते हैं मौत से साक्षात्कार और जीवन को हर हाल में बचा लेने की उत्कृष्ट लालसा के प्रसंग। ऐसी स्मृतियां काल के नेपथ्य में जाकर वर्तमान से संवाद करती रहती हैं। वे मनुष्य के अवचेतन में बीज रूप में अवस्थित रहती हैं जो स्थान, काल, परिवेश के साम्य के साथ पुनर्जीवित होकर सामने आ जाती हैं तथा वर्तमान को झकझोर कर भविष्य को आशंकाओं से भर देती हैं। ऐसी ही दो तीन दिसम्बर 1984 की दरमियानी रात को भोपाल में घटित भयावह गैस त्रासदी (जब केवल मौत संभव थी) की स्मृतियां सुबोध श्रीवास्तव को छब्बीस वर्ष तक खदबदाती रहीं बेचैन करती रहीं। साथ ही प्रेरित रहीं कि मौत की उस काली रात में जब जीवन को अपने आगोश में लेने के लिए मौत का समंदर गरज रहा था, आतुर था। उस खौफनाक मंजर को अपनी लेखनी द्वारा संभव करें। इसीलिए जब सुबोध श्रीवास्तव कटनी से भोपाल आए तो सबसे पहले वो उन स्थलों पर गए जहाँ दो दिसम्बर की रात उन्होंने मृत्यु का तांडव देखा था। वह उस अशोका होटल गए जिसकी छत से कूदकर वह आत्महत्या कर लेना चाहते थे। राजश्री होटल और उस धर्मशाला गए जहाँ अन्य बराती ठहरे हुए थे। जिन्हें मौत के भय ने एक दूसरे से अलग थलग कर दिया था। उन गलियों में कूचों में घूमे जहां प्राणवायु की तलाश में सैकड़ों लोग एक दूसरे को कुचलते हुए नामालूम दिशा की ओर भाग रहे थे। तब जाकर स्वानुभूति की प्रगाढ़ता, मार्मिक मानवीय संवेदन और दारुण त्रासदी की नंगी सच्चाइयों के सम्मुख से अनुस्यूत हुआ सुबोध श्रीवास्तव की कलम से यह लघु उपन्यास “रात और मौत के आगे आगे” आप इसे रिपोर्टाज, आँखों देखा वृत्तांत, स्मृतियों का कोलाज कुछ भी कह सकते हैं पर उस भोगे हुए भयावह यथार्थ से इंकार नहीं कर सकते। वैसे भी पूरी किताब में प्रकाशक या लेखक द्वारा इसे लघु उपन्यास भी नहीं कहा गया है। ब्लॉग में ओम ने केवल एक जगह इसे स्वल्प आकार प्रकार का उपन्यास कहा है। ओम भारती अपने ब्लॉग में लिखते हैं— इस सच्चाई को कला में बदला है कथाकार की निष्कंप यथार्थ दृष्टि ने, दूरदर्शी और तलस्पर्शी संवेदन ने, और अनुभूति के अचल पुरुषार्थ ने। हजारों लोग इस प्रयत्न में कि किस विध झपट्टा मार रही। मृत्यु को परे और पीछे छोड़ा जा सके। काल के खुले जबड़े में

जीवन बचेगा ही जैसा कुछ गा रहे हैं।

नायक विहीन इस उपन्यासनुमा किताब का प्रारंभ मित्र अरुण गुप्ता उर्फ बजरंगा की बरात के प्रस्थान से होता है बरात कटनी से भोपाल जा रही है। मौज मस्ती, हँसी ठहाके, मयनोशी, स्वच्छंदता बरात के अपेक्षित प्रसंगों के बीच लेखक नर पिशाचनी मिथाइल आइसो सायनाइट गैस का परिचय, आने वाले क्रूर और कठिन समय की चेतावनी और उसकी भयावहता के संकेत देते चलता है। क्योंकि इस किताब में लेखक द्रष्टा भी है और भोक्ता भी। वे रास्ते में हुए कुछ अपशकुनों को भी त्रासदी के पूर्वाभास की तरह व्यक्त करते हैं। भोपाल में हर्षोल्लास, धींगामुश्ती के बीच सम्पन्न हुए शादी के रीति-रिवाजों के बाद शुरु होती है जीवन भक्षणी प्रलंकारी गैस-गाथा, जो किताब का केन्द्रीय भाव और लेखक का अभीष्ट।

दो दिसम्बर 1984 को रात एक बजे जहरीली गैस का रिसाव, चीख पुकार, हा हा करते लोग, चीत्कार, एक दूसरे पर गिरते-पड़ते, एक-दूसरे को रौंदती-कुचलती भीड़, चारों तरफ हाहाकार। अपने विशाल जबड़े खोले पीछे आती मौत, अपने को बचाने की जद्दोजहद में बदहवास आगे-आगे भागता जीवन। सड़क, गली, कूचे, नाली, कब्रिस्तान, मंदिर में आश्रय और प्राण वायु की तलाश में सैकड़ों हजारों लोग। कई मर चुके थे, कई मर रहे थे, कोई कराह रहा था, कोई रो रहा था, कोई तड़प रहा था हर तरफ एक ही पुकार जीवन जीवन जीवन। पुस्तक में दो दिसम्बर की रात का इतना हृदय विदारक प्रामाणिक और सटीक वर्णन है कि पाठक की आँखें गीली हो जाती हैं। उसे लगता है वह भी उस भीड़ का हिस्सा है। लेखक के साथ वहमी प्राण वायु की तलाश में दौड़ भाग कर रहा है।

लेखक ने छोटे कलेवर में एक बहुत बड़ी त्रासदी और उसकी विभीषिका को समेटा है। इस पुस्तक के पहले भोपाल गैस कांड पर ऐसा अनुभव जन्य, चाक्षुष यथार्थ संभवतः नहीं है। पुस्तक में कुछ अन्तर्कथाएँ भी हैं जो मूल

कथानक से जुड़ी हुई हैं। इन कथाओं में बिज्जू, उम्मी चाचा, द्वारका, परवारी, लालनी पंडा, ओम जैसे बरातियों के निजी अनुभव हैं। किस तरह उन्होंने अपने प्राणों की रक्षा की, कैसे मौत को चकमा दिया और उसके चंगुल से छूट निकले। सारे के सारे व्यक्तिगत अनुभव बेहद कारुणिक और वेदनापूर्ण हैं। दिल दहला देने वाली भयंकर गैस त्रासदी के बीच दिल को छू लेने वाले कुछ मार्मिक प्रसंग भी हैं। जब सबको अपना जीवन बचाने की पड़ी थी कुछ लोग ऐसे भी थे जो अपने जीवन की परवाह न करते हुए दूसरों की जीवन रक्षा में लगे थे। ट्रक ड्राइवर सरदार जी का कथन- दो एक फेरे और लगाऊँगा। देखता हूँ कितनों की मदद कर पाता हूँ। वाहे गुरु सबकी रक्षा करेंगे। (पृ. 60) ऐसी परोपकारी भावना और मनुष्यता के प्रति सिर झुक जाता है। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद शादी करके दुल्हन को विदा कराने का बंजरगा का निर्णय भी मानवता का उच्च आदर्श है। परिच्छेदों के आमुख पर चकबस्त, सुभ्रदा कुमारी चौहान और इकबाल की कविताएँ प्राक्कथन की तरह किताब का अभ्यांतर खोलती हैं। जिस यात्रा का प्रारंभ हँसते हुए हुआ था, वापसी लगभग रोते हुए होती है इस सुख और संतोष के साथ कि सारे बराती सकुशल हैं।

सुबोध श्रीवास्तव के पास अभिव्यक्ति के लिए अपनी एक भाषा है और उसका मुहावरा भी जो प्रयोजनमूलक भी है संवादात्मक भी। पुस्तक की संरचना, इसकी भाषा, शिल्प, शैली मूल कथानक से इकसार हैं। अकृत्रिम भाषा बोधगम्य, हृदयस्पर्शी तथा पाठकों को संवेदित करने में सक्षम है। बकौल ओम भारती- तो आइए शुरू करें इस किताब के पृष्ठ आपके इंतजार में हैं।

पुस्तक : रात और मौत के आगे आगे

लेखक : सुबोध कुमार श्रीवास्तव

प्रकाशक : विभा प्रकाशन- इलाहाबाद

मूल्य : 200/- मात्र

संपर्क:

10, प्रियदर्शिनी ऋषि वैली, ई-8 गुलमोहर एक्सटेंशन,

भोपाल- 462039 (म.प्र.), मो. 09425371874

कश्मीर के वैविध्यपूर्ण परिदृश्य में 'इकबाल'

अरुण अभिषेक

रचनात्मकता की दुनिया में सुपरिचित, तेजस्वी और सशक्त कथा-लेखिका जयश्री राय का नवीनतम उपन्यास 'इकबाल' अनूठी कृति है। इस उपन्यास ने कथानक की दृष्टि से कश्मीर-समस्या का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संज्ञान के साथ, जीवन के बहुत बड़े क्षितिज को भी ढूँढा है और उन संकटों के विरुद्ध नई दृष्टि विकसित की है। इस हेतु लेखिका कथानक की गहराई को अपने नए भाव-बोध और दृष्टि में उकेरते हुए, नए परिवेश में प्रवेश भी करती है। जाहिर है, कथादृष्टि अपने समय के अंतराल के साथ, स्मृति के वैभव से टकराती है, जिनकी संवेदनशीलता को खास ढंग से चिह्नित किया गया है। सच तो यह है कि 'इकबाल' जैसे चरित्रों की कहानियाँ न सिर्फ विरोध की कहानियाँ हैं बल्कि विरोध के मुखर न होने की स्थिति और उन पीड़ाओं से जूझते मनःस्थिति की पारदर्शी कहानियाँ हैं। कथानक बेहतर विकल्प और सामंजस्य की संभावना को भी व्यक्त करता है।

उपन्यास के मुख्य किरदार जिया और इकबाल हैं। जिया लेखिका है। वह कश्मीर के राजनीतिक इतिहास के साथ अलगाववादी संकटों और उन घटनाओं के तह में जाकर कुछ खास तौर पर लिखना चाहती है, जहाँ 'कश्मीर हमारी जन्मत है' की छवि टूटती और ढहती नजर आती है। फेसबुक फ्रेंड के माध्यम से इकबाल से जिया की प्रेम-प्रगाढ़ता उपजती है, जिसमें विमर्श के माध्यम से कश्मीर के राजनीतिक इतिहास के साथ अलगाववादी घटनाओं और उनकी मानसिकताओं के कई कटु-सत्य परत-परत सामने तो आते ही हैं, साथ ही आतंकवाद की गहरी पैठ का दुष्परिणाम भी सामने होता है। लेखिका अपने मुख्य किरदार 'इकबाल' के माध्यम से कश्मीरी-संस्कृति की समृद्धि, सामाजिक और राजनीतिक इतिहास की पड़ताल तो करती ही है, साथ ही साथ उन तमाम अतीत की घटनाओं को गंभीरता से समेटते हुए या फिर उन वैचारिक विसंगतियों की जमीन पर, वर्तमान में घटित उन तमाम कराह और तिक्तता को भी गहरे ढंग से चिह्नित करती है। लिहाजा पाठक, कश्मीरी जन-चेतना, उनकी खोई सांस्कृतिक परंपराओं, उनके भाव-संसार और इतिहास के पन्नों से अलग होते द्वंद्व से परिचित तो होते ही हैं, साथ ही विचलित भी। यह छटपटाहट उपन्यास के अदद किरदार मुज्जबा के माध्यम से व्यक्त होती है कि "हर हाल में हम कश्मीरी लोग अमन पसंद हैं, अमन चाहते हैं... यही हमारी रगों में है और तहजीब में भी। हमारा माजी पलटकर देख लीजिये, सूफियों की लम्बी, बहुत पुरानी विरासत है हमारी... इश्कहकीकी, इश्कमिजाजी।" (पृ. सं. 65) दूसरी ओर शुरू होती है- राजनीति, विमर्श के कई फैसले जो अब तक राजनीतिक गाँठ बनकर रह गई है। इस गाँठ को उपन्यास बखूबी अपनी तिक्तता से खोलता है, इन आशयों में कि "मजहब का एक अहम किरदार होता है- यहाँ लोगों को अपनी तरफ खींचने के लिए, सियासतदान का इस्तोमल करते हैं और यहाँ के लोग इतने जज्बाती होते हैं कि

सोचने-समझने की ताकत खोकर उसी तरफ चल पड़ते हैं जिधर हाँके जाते हैं...।’ तब हम महसूस करते हैं कि अतीत की इन कचोटती घटनाओं से मुक्ति की छटपटाहट भी है और भीतर ही भीतर प्रतिशोध के रूप में अपनी बेचैनी से मुक्ति का आक्रोश भरा मुहिम भी है। उपन्यास यह विमर्श ऐतिहासिक घटनाओं के साथ तिथिवार पूरी तरह गंभीरता से सामने लाता है। शेख अब्दुल्ला कश्मीर को पूरी तरह से आजाद करना चाहते थे। लेकिन हथ्र क्या हुआ? यह वही मिसअंडरस्टैंडिंग है, आज मुहम्मद युसूफ शाह पाकिस्तान के टॉप-मोस्ट मिलिटेंट हैं तब आम कश्मीरी दो पाटों में पिसते नजर आते हैं। एक, जेहादियों के खौफ से तो दूसरी तरफ सत्ता, पुलिस, बी.एस.एफ या फिर सेना की ज्यादातियों से।

इन तमाम दहशतजदा के बावजूद कश्मीर की संस्कृति और प्रकृति जन्मत को भी मात कर देती है। मसलन यहाँ के प्राकृतिक-दृश्य वादी की खूबसूरत हकीकत हैं और यह हकीकत उतना ही पाक और पारदर्शी है, जितना कि जिया और इकबाल के मध्य बेइंतहा प्रेम। ये दोनों चेतनासंपन्न किरदार अपने प्रेम के अंतश्चेतनाओं के मध्य जिन्दगी की पूरी मिठास को अपनी मुट्ठी में समेट लेना चाहते हैं। लिहाजा प्रेम की घनीभूत चेतना से इनकी जिन्दगी, देश की गंभीर चिंताओं से टकराती, अमन की अपेक्षा रखती है। उपन्यास के कैनवास पर जिया अमन-पसंद नजर आती है, वहीं आक्रोश से भरे इकबाल के दिल में भी अमन की पुरजोर चाहत होती है। मसलन “प्रेम” और “राष्ट्र-प्रेम” की समांतर सोच के तहत, उपन्यास का कथानक एक अभिनव शिल्प में मौजूद होता है। खासकर जब प्रेम-प्रसंग सामने मौजूद होता है तो लेखिका की भाषा प्रकृतिमय और काव्यात्मक हो उठती है। इस संदर्भ में लेखिका की महीन दृष्टि-संपन्नता, अपने आलोचनात्मक विमर्शों के माध्यम से, कश्मीर की जमीन, यहाँ का सांस्कृतिक सौंदर्य और राजनीतिक-सामाजिक विमर्श, वर्तमान हो उठता है।

प्रस्तुत उपन्यास में जयश्री राय अलगाववादी ताकतों को गंभीर साक्ष्य के साथ सामने लाती हैं। खासकर वंदहामा गाँव के जिक्र के दौरान, एक पात्र अशोक कौल यह स्पष्ट करते हैं कि ‘एमनिस्टी इंटरनेशनल, ह्यूमन राइट्स वाच,

इंटरनेशनल कमीशन ऑफ ज्यूरी’ ने अपनी तरफ से जाँच-पड़ताल करके ही इस तथ्य को स्वीकार किया है कि दहशतगर्दों की तरफ से निरीह पंडित समुदाय तथा अन्य लोगों पर अमानवीय अत्याचार हुए हैं।... पाँच हजार साल की प्राचीन हिंदू संस्कृति, सभ्यता, नष्ट कर देने का हर संभव प्रयास हुआ...।” (पृष्ठ संख्या-87) यह तथ्य अदद किरदार जिया के माध्यम से भी सामने आता है कि— “...उस समय के गवर्नर जगमोहन ने एक साजिश के तहत कश्मीरी पंडितों को वैली से बाहर निकाल लिया था कि हिंदुओं को वहाँ से सुरक्षित करके मुसलमानों का आसानी से सफाया किया जा सके।” (पृष्ठ संख्या-87) यह संदर्भ मेजर सिद्धार्थ के माध्यम से, कश्मीर की पूरी दास्तां के साथ-साथ, वर्ष 1947 की युद्ध की विभीषिका भी सामने होती है।

कुछ इसी तरह की खास परिस्थितियों या मिसअंडरस्टैंडिंग की वजह से वैली में कई आतंकवादी दल सक्रिय हैं। यहाँ पाकिस्तान की सोच, इस आशय से सामने आता है कि “...पाकिस्तान शुरू से यही कहता आ रहा है कि वह कश्मीर के लोकप्रिय भारत विरोधी आंदोलन को नैतिक तथा कूटनीतिक समर्थन देता है...।” (पृष्ठ संख्या-111) यहाँ गौरतलब है, उपन्यास में सत्यभान काका का आना, जो इकबाल के पिता के साथ पाकिस्तान के खिलाफ कश्मीर की आजादी की लड़ाई लड़े थे। मसलन नायक इकबाल के भीतर कश्मीर के अतीत के साथ, वर्तमान का कटु सत्य मौजूद है। उसके भाई की हत्या आदि कई कारणों से इकबाल के भीतर यहाँ की वर्तमान सेना और भारतीय व्यवस्था की कटु आलोचना, कथा-नायिका जिया से करते हैं। निश्चय ही यह उपन्यास में इन तमाम वक्र गूढ़ार्थ को गंभीरता से लिया है।

इन तमाम अनुभवों को बटोरती जिया गोवा लौट आती है। इकबाल से जुदा होते ही जिया के भीतर प्रेम का उफान, जो सिर्फ इकबाल के लिए है, पाठक इस प्रेम के चरमावस्था को महसूस कर सकते हैं। इकबाल के प्रेम में यहाँ स्त्री-विमर्श भी सामने मौजूद है, जब जिया सोचती है— “जो मेरे लिए सबकुछ है, वह किसी के लिए इतना मामूली कैसे हो सकता है?” (पृष्ठ संख्या-138) तब

इकबाल का प्रेम भी उसी चरम में, इन शब्दों में व्यक्त होता है- “ये कुफ्र नहीं, मेरा खुद पर यकीन है, अपने प्यार पर भरोसा है! आपको मुझसे कोई अलग नहीं कर सकता जिया, ये ऐतवार हमेशा रखना।” (पृष्ठ संख्या-139) दरअसल इकबाल की पत्नी जन्नत की नापसंदगी से उत्पन्न हालात के कारण, इकबाल का जिया के प्रति अंतरंग मोहब्बत है। यहाँ स्त्री का दूसरा पक्ष भी चिंतनीय है। इस तरह यहाँ उपन्यास एक सवाल के साथ मौजूद होता है कि एक स्त्री की चिंता में दूसरी स्त्री की चिंता को वाजिब न बताते हुए, उस स्त्री को फेमिनिस्ट कह देना कहाँ तक उचित है? (पृष्ठ संख्या-144) बावजूद प्रेम यकीन में मौजूद होता है, बिल्कुल इन पारदर्शी भावार्थों में कि ‘हर-सरहद को पार कर जाती है मुहब्बत, हर दीवार को लांघ जाती है... मुट्ठी भर के दिल में एक पूरी कायनात समा जाती है, सिमट जाती है चंद धड़कनों में प्यार का उफनता दरिया...!’ (पृष्ठ संख्या-142) प्रेम चरम पर होता है और ऐसे क्षणों से चूक जाना, जेहन में घोलता है, कुछ इस कदर “ओह इकबाल! यह मुझे तुम किस तकलीफ में अकेली छोड़ गये हो... इस सन्नाटे में, इस स्याह रेगिस्तान में जीया नहीं जाता।... मैं डूब रही हूँ... इकबाल! बचा लो!” (पृष्ठ संख्या-158) यह प्रेम की पराकाष्ठा है या यातना? निश्चय ही यह सवाल अंततः ‘प्रेम’ से जुड़ा है। जिसकी रचनात्मकता का अपना विशिष्ट प्रवाह है जहाँ हमारी संवेदनाएं पूर्णतया जीवन और उनसे जुड़ी प्रेम के लिए संवेदित है।

उपन्यास का उत्तरार्द्ध भी प्रेम यातना की पराकाष्ठा से व्याप्त है, क्योंकि जिया के कश्मीर में पुनः लौटने के बाद आतंकियों द्वारा उसका अपहरण इस तथ्य को संकेतित करता है, जिसका कारण है उसका भाई का भगवा राजनीति से जुड़ा होना, लेकिन हरसंभव प्रयास के बाद भी वो उसे छुड़ा नहीं पाता। और इधर इकबाल प्रेम में विचलित होता है और अपने बूते मोटी रकम देकर जिया को आतंकवादियों से छुड़ा लेता है। दुर्भाग्यवश उसी क्षण आर्मी ऑपरेशन में भागते हुए इकबाल की मौत हो जाती है और वे आतंकवादी के फेहरिस्त में शामिल हो जाता है। अपनी मुहब्बत इकबाल

की मौत से जिया हतप्रभ होती है और सिस्टम के इस स्याह सच से टूट जाती है। यह विडंबनाओं की पुनरावृत्ति है। जिया का यह दर्दनाक चीख भरा एहसास “लो! मिट गया जन्नत दुनिया के नक्शे से, खत्म हो गया हमेशा के लिए! मेरा इकबाल, मेरा प्यार नफरत की भेंट चढ़ गया... एक बार फिर प्यार नफरत की भेंट चढ़ गया...।” (पृष्ठ संख्या-204) सिस्टम की इस जीत पर सब खुश थे, लेकिन जिया? उसके भीतर आत्म-तर्पण की ध्वनि गूँजती है-” ... इकबाल की हार में मेरी कभी कोई जीत नहीं हो सकती, कभी नहीं।” (पृष्ठ संख्या-208) उपन्यास का यह मैसेज ढाई अक्षर-‘प्रेम’ की बुनियाद पर, पूरी दुनिया टिकी हुई की उद्घोषणा करती है।

अंततः यह उपन्यास कश्मीर के बदलते इतिहास में झाँकते हुए, अपने समय के संकटों, उलझावों, विरोधाभासों और यंत्रणाओं की महागाथा है। साथ ही प्रेम- कहानी में लिपटा, यह उपन्यास अपने विषय को तरलता और सरलता से महसूसने के लिए पाठकों को बेहतर पाठ के लिए प्रेरित भी करता है। निश्चय ही यह खयालात संचेतनाओं और संश्लिष्टताओं का प्रतिनिधित्व करता है। इस हेतु जयश्री राय के पास कथा व्यक्त करने की संवेदनशील दृष्टि, कवित्वमय शैली और लालियत्यपूर्ण कथ्य-कला है। उनकी भाषा की संप्रेषणीयता बड़ी सहजता से पाठकों के मन में अपनी जगह बना लेती है। खासकर कथानक के परिवेश से जुड़ी आंचलिक भाषा की आवां में तपे-पके शब्दों का लेखिका भरपूर प्रयोग करती है। लिहाजा पाठक कथानक के यथार्थ और दृश्य के बहुत करीब होते हैं। दूसरी ओर उपन्यास की कथा अपने विन्यास में जिन क्षणों को आंकती है, वहाँ समय नहीं, मनुष्य और उसकी संवेदनाएँ होती हैं। निश्चय ही कथानक इन तमाम विस्तारता को लिए है। यह पठनीय और दस्तावेजी उपन्यास है।

पुस्तक : इकबाल (उपन्यास)

लेखिका : जयश्री राय

प्रकाशक : आधार प्रकाशन प्रा. लि., पंचकूला- 134113

मूल्य : 120/- रुपये

संपर्क : विवेकानंद कॉलोनी, पूर्णिया- 854301, मो. 09852888589

उपसंहार- काशीनाथ सिंह का नया उपन्यास

उत्तर भारत की कृष्ण-कथा का रोचक आख्यान

डॉ. इतु सिंह

काशीनाथ सिंह हिंदी कथा साहित्य का एक बहुचर्चित नाम है। उनका नवीनतम उपन्यास 'उपसंहार' फरवरी 2014 में राजकमल से प्रकाशित हुआ है। इससे पहले उनका उपन्यास 'अपना मोर्चा', 'काशी का अस्सी', 'रेहन पर रघू' और 'महुआ चरित' प्रकाशित हो चुका है। 'रेहन पर रघू' पर काशीनाथ जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है परंतु आपकी प्रसिद्धि का सर्वाधिक श्रेय 'काशी का अस्सी' को ही दिया जा सकता है।

यह उपन्यास अपने कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से नयापन लिए हुए है। काशीनाथ सिंह सदैव से ही प्रयोगधर्मी कलाकार रहे हैं। हर बार उनकी रचनाएँ पाठक को चकित करने की मंशा के साथ प्रकाशित होती रही हैं। यह उपन्यास पाठक को एक बिल्कुल ही नए जगत में ले जाता है। अब तक वर्तमान और समकालीन विषयों को रचते-रचते हठात् लेखक महाभारत की मिथक कथा की ओर मुड़ता है। इस उपन्यास में महाभारत की उत्तर-कथा और कृष्ण के आत्मसंघर्ष को विषय बनाया गया है। पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर ही आप्त-वाक्य की तरह इस उपन्यास के मूल विषय को टंकित किया गया है- "चरम सफलता में निहित है एकाकीपन का अभिशाप"।

यह एक महानायक की विवशता की कथा है, जिसे दुनिया ईश्वर कहती है। कृष्ण का व्यक्तित्व सदैव से ही विवादित रहा है। ईश्वर की आभा से दीप्त यह व्यक्तित्व मनुष्यत्व की धरातल पर कई-कई प्रश्न खड़े करता है। इस पुस्तक की रचना से पूर्व काशीनाथ जी ने काफी अध्ययन किया है और तत्पश्चात् कथा साहित्य आख्यान की रचना की है। कथा बेहद रोचक है और शैली अत्यंत प्रभावशाली। सहजता तो काशीनाथ सिंह की पहचान ही है और वे जटिल से जटिल विषय को सहज-सरल शैली में अभिव्यक्ति करने में माहिर हैं। कथा ऐसे कही गई है मानो हमारे बीच बैठा कोई कथावाचक कथा कहता जा रहा है और श्रोता आगे क्या हुआ की उत्सुकता के साथ कथा के प्रवाह में प्रवाहित होता जाता है।

उपन्यास की कथा कृष्ण और उनकी नारायणी सेना के महाभारत से लौटने से शुरू होती है और कृष्ण की मृत्यु पर समाप्त होती है। महाभारत के पश्चात् कुछ पहले जैसा नहीं रह जाता है, यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण भी नहीं। वे इस युद्ध में अर्जुन को भले ही द्वंद्व मुक्त करते हैं पर स्वयं द्वारिका द्वंद्व ग्रस्त होकर लौटते हैं। वे युद्धभूमि में अपनी चिर-परिचित मुस्कान छोड़कर लौटते हैं- "... सब कुछ वही था, वैसा ही था, बस एक चीज नहीं थी, जो उनकी पहचान बन गई थी। वह चीज थी-मुस्कान।" द्वारिका लौटे कृष्ण को महसूस होता है कि महाभारत के युद्ध में केवल हस्तिनापुर का ही नहीं द्वारिका भी बहुत कुछ विनष्ट हो गया है। उनका अपना विवादित निर्णय की वे पांडवों की ओर रहेंगे और उनकी सेना कौरवों की ओर से युद्ध करेगी- आज उन्हें व्यथित कर रही है। वयस्क कृष्ण का राजनीतिक रूप ऐसा हावी हो चुका है कि उनका बाल रूप और किशोर रूप विलुप्त हो गया है।

वे अपने पुराने दिनों को याद करके विह्वल हो उठते हैं।''
वे तंग आ चुके थे वासुदेव, केशव, पुरुषोत्तम, जनार्दन सुनते-सुनते।''

कृष्ण की इस व्यथा-कथा को कहना ही लेखक का लक्ष्य रहा है और वह इसे सामान्य मानव के धरातल पर उतार कर ही कह सकता है। कृष्ण अपने नागरिकों का रूदन तो सुनते हैं परंतु विडंबना यह है कि वह ईश्वर होने के कारण रो भी नहीं सकते। वही कृष्ण जो बाल्यकाल में अकारण रोते थे आज रोने को तरसते हैं। वे बार-बार अपने अतीत की ओर लौटते हैं और आत्ममंथन करते हैं। उनका सामान्य गोपाल से लेकर भारत के महानायक बनने तक की कथा एक त्रासदी बन जाती है। आज उनका वह ऐश्वर्य संकटापन्न है- जन-जन का प्रिय नायक गहन आलोचना का शिकार बनता है। वह अपनी इस महानता के शिखर पर नितांत अकेला खड़ा है- एकाकी, निरीह।

इस उपन्यास में काशीनाथ सिंह ने बीच-बीच में कविताएँ भी लिखी हैं जो उपन्यास के गद्य के साथ भली-भाँति संयुक्त की गई हैं। यह कविताएँ यद्यपि गद्यात्मक हैं परंतु लयात्मक और आवेगपूर्ण हैं। इन्हें पढ़ते हुए धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' और उसकी शैली का सहसा स्मरण हो आता है। कई स्थलों पर भावों की समानता को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है। जिस धर्म के लिए सारा महाभारत आयोजित हुआ वह अपने आप में कैसा विषादपूर्ण हो गया था-

ऐसे तो हस्तिनापुर में धर्मराज्य की स्थापना के बाद से
कृष्ण निश्चित थे

धर्मराज युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम की क्षमताओं से
फिर भी उनका ध्यान अक्सर चला जाता था उनकी ओर
कि वे कैसे हैं?

कि राजकाज कैसा चल रहा है?

कि प्रजा कितनी सुखी है?

कि राज्य की सीमाओं पर तो अब खतरे नहीं हैं?

(सच कहो तो बचा ही कोई नहीं, जिससे खतरा हो।)

यह यद्यपि गद्यात्मक काव्य है पर नए प्रयोग एवं कथा

में प्राचीनता का और महाकाव्यत्मकता का अहसास दिलाने की दृष्टि से उल्लेखनीय है। काशीनाथ सिंह शायद यह बताना चाहते हैं कि महाभारत बीत कर भी कभी नहीं बीतता और वह हमारी आदिम स्मृति में पत्थर की लकीर की तरह दर्ज है। इस उपन्यास में सुधर्मा में आयोजित सभा, द्वारका के गणतंत्र, कृष्ण-बलराम संबंध, कृष्ण के विशाल परिवार के भीतर पसरे अनुशासनहीनता का ब्यौरा भी उल्लेखनीय है। राधा का प्रसंग खास है परंतु उपन्यासकार ने इस प्रसंग को स्पर्श करके छोड़ दिया है। या तो वह प्रेम प्रसंग का निर्वाह नहीं कर पाया है अथवा कथा की धारा में इसका विस्तृत उल्लेख आवश्यक नहीं लगा है। दुर्वासा ऋषि का प्रसंग भी खास तरह से रखा गया है। इस उपन्यास की अधिकांश कथा विदित कथा ही है परंतु लेखक कुछ कम चर्चित कथाओं पर ठहरना चाहा है और प्रसिद्ध घटनाओं का तेजी से बयान है।

इस उपन्यास के उद्देश्य और प्रासंगिकता को लेकर विविध प्रकार के मत हो सकते हैं। कृष्ण के ईश्वरत्व और मनुष्यत्व के बीच की खाई को उपन्यासकार ने लगभग पाट दिया है। अब वह वृद्ध, अक्षम, आत्मग्लानि से ग्रस्त नायक हैं जो कभी जन सामान्य के बीच का व्यक्ति था, सबका चहेता था आज नितांत अकेला और शक्तिहीन है। क्या यह हर उस नायक की कथा नहीं है जो अपने जीवनकाल में ही अपना उत्थान और पतन सब देख लेता है। उसके सभी आदर्शों का हनन उसके संततियों के द्वारा ही होने लगता है।

यह उपन्यास आकार में अपेक्षाकृत छोटा है, जिस कथा को आधार बनाया गया था उसमें विस्तार के लिए पर्याप्त अवकाश था। पाठक की दृष्टि से यह उपन्यास रोचक और गतिशील है तथा उपन्यासकार के साहित्यिक जीवन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

पुस्तक : उपसंहार

लेखिका : इतु सिंह

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन

मूल्य : 120/- रुपये

संपर्क : 9432355315

‘धर्मात्मा विभीषण’ में जीवन का छाया चित्र

डॉ. सूर्य प्रसाद शुक्ल

उपन्यास में जीवन का छायाचित्र शब्द के माध्यम से कागज पर उतारा जाता है। प्रायः व्यक्ति इस विधा का विषय होता है और समाज तथा प्रकृति के सह-संबंधों एवं विरोधों की परिणति ही कथातत्त्वों के संगुम्फन की शिल्प प्रविधि होती है। साहित्य की इस आधुनिक विधा में जीवन का इतना विस्तार होता है कि इसके प्रकार का ठीक-ठीक वर्गीकरण करना संगत नहीं लगता, फिर भी विवेचन और कृतित्व के मूल्यांकन के लिए शैली, वस्तु निर्माण, तत्त्व विशेष की प्रधानता और वर्ण्य विषय के आधार पर इसको ऐतिहासिक, आत्मकथापरक, पत्रात्मक एवं डायरी आदि वर्गों में पहचान दी जा सकती है। सुधीर निगम का बहुचर्चित उपन्यास ‘धर्मात्मा विभीषण’ काल सापेक्ष कथावृत्त में समाजेतिहासिक व्यवस्थाओं और कल्पनाओं को समेटे इतिवृत्तात्मकता का निर्वाह करने वाला चरित्र प्रधान आदर्श तथा यथार्थ का समन्वय है। लेखक ने कथा-वस्तु, चरित्र, कथोपकथन, देशकाल, शैली और उद्देश्य के साथ-साथ भाव-तत्त्व को भी उत्तम उत्कर्ष प्रदान किया है।

ऐतिहासिक कथावृत्त प्रायः काल विशेष की समय सीमा में आबद्ध आचरण के गवाह होते हैं। इस कृति का समय पुराण वर्णित त्रेता युग है। पौराणिक कथाओं के पात्रों और घटनाओं में अनेक बार अतिमानव और चमत्कारी क्रियाकलापों का वर्णन होता है जो आज के आधुनिक, वैज्ञानिक और प्रगतिशील मनुष्य को मान्य नहीं होता। लेखक ने अपने पात्रों के चरित्रों में, सामाजिक व्यवस्थाओं में और उनकी सांस्कृतिक गतिविधियों में सर्वत्र ही वास्तविकता और व्यावहारिकता का ध्यान रखा है। धर्मात्मा विभीषण रामायणकालीन पात्र है। लेखक ने आदि कवि वाल्मीकि की ‘रामायण’ में वर्णित विभीषण के सगे संबंधियों, उनके संबंधों और आचरणों तथा सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारों का अपने विवेक से अनुसंधान करके यथार्थवादी और मानवतावादी कथानक निर्मित किया है। वर्तमान समय में ‘विभीषण’ शब्द से किसी को अभिहित करना उसका अपमान करना होता है, क्योंकि विभीषण ने अपने भाई रावण की अनीतियों से त्रस्त होकर ही राम के पक्ष में सम्मिलित होने का निर्णय लिया था। प्रस्तुत कथानक में शोधपरक निष्कर्षों के आधार पर विभीषण को धर्मात्मा कहा गया है, और प्रमाणित किया गया है कि वह धर्म के उज्ज्वल स्वरूप के धारक थे। उनकी न्यायप्रियता में औचित्य और सत्य की धारणा थी। वह कुशल राजपुरुष थे, नीति-निपुण राजा थे, उदार और चरित्रवान थे। अपने राजा के प्रति तथा अपने देश के प्रति उनके मन में निष्ठा थी,

किन्तु राजा के अनुचित कार्यों और व्यवहारों के वह समर्थक नहीं थे। चरित्र चित्रण में पट्ट श्री निगम ने इस कृति के मुख्य पात्र की तो बहुविध चारित्रिक उदात्तता का चित्रण किया ही है, कथानक में आए उपकथाओं के पात्रों के चरित्रों को भी उनकी विशेषताओं के साथ रसात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफलता पाई है। विभीषण के ज्येष्ठ भ्राता रावण, उसकी माँ कैकसी, उसकी पत्नी मंदोदरी, विभीषण और रावण की बहिन चन्द्रनखा, जो बाद में सूर्पनखा हो गई थी, तथा अन्य सहयोगी पात्रों की भी अवतारणा अवसर के अनुरूप चारित्रिक विशेषताओं के साथ की गई है। लेखक ने वस्तु निर्माण और चरित्र निर्माण के संतुलन को बखूबी निभाया है। लोक में घर का भेदिया नाम से जाना जाने वाला विभीषण धर्मात्मा बन गया है। यह घटना और चरित्र प्रधान उपन्यास है अतः पात्रों के चरित्रों का घटनाओं के आधार पर ही विकास होता चला गया है जो कथा वस्तु के सौन्दर्य की रक्षा करते हुए नाटकीय तत्त्व को संभालने का भी उपक्रम बन गया है। इस प्रकार के उपन्यासों में चरित्र और कथा वस्तु का अंतर देख पाना आसान नहीं होता क्योंकि चरित्र कथा तंत्र के अंग होते हुए भी एक दूसरे से इस प्रकार संगुम्फित होते हैं कि उन्हें अलग करके देख पाना कठिन होता है। चरित्र अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य करने की दिशा का निर्धारण करते हैं और कार्य दिशा ही चरित्रों को गतिशील (प्रोग्रेसिव) बनाती है तथा उनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित करती है। लेखक का अभीष्ट प्राचीनता को भी व्यावहारिकता और मानवीयता प्रदान करना रहा होगा, तभी उन्होंने पात्रों के चरित्रों को गतिशील बना कर आज के युग की अपेक्षाओं के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। नाटकीय तत्वों से भरपूर इस उपन्यास के चरित्रों में तीव्रता है, घटनाओं में गतिशीलता है तथा यथार्थ की रक्षा करते हुए समय तथा समाज का जीवन-बोध कराया गया है।

जीवन और साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। इस कृति के कथावृत्तांत में भी तत्कालीन समाज के मनुष्य का जीवन बहुत विस्तृत आयामों तक वर्णन का विषय बना है। वह कालखण्ड जिसमें विभीषणकालीन (वह काल जब रावण १२ वर्ष के लिए दिग्विजय हेतु चला गया था)

मनुष्य बहुत समृद्ध था अपनी भौतिक उपलब्धियों को प्राप्त करके, निःसंदेह इस बात का संकेत भी देता है कि पृथ्वी पर मानव का सामाजिक विकास सदैव से उसी प्रकार का रहा है जैसा आज है। उस काल में भी कला-कौशल, रहन-सहन, सांस्कृतिक उपलब्धियों और वैज्ञानिक उपकरण तथा उनका प्रयोग आज की भांति ही था। गुणयत्री (सत, रज, तम) का प्रभाव भी सार्वकालिक ही रहा है। अतः विभीषणकालीन मनुष्य भी सदाचारी; राजसी और तमाचारी सभी प्रकार का था। शिक्षा व्यवस्था उस काल में भी उत्तम प्रकार की थी। आश्रमों के गुरुकुल वर्तमान के स्कूलों और विश्वविद्यालयों की भांति ही थे। आमोद-प्रमोद के शौकीन लोग उस काल में भी थे तथा मद्यप और कुचालों की लती भी समाज के अंग थे। सुदृढ़ आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था का परिचय भी उपन्यास के कथानक की कथाओं में उपलब्ध हुआ है। चरित्र प्रधान और घटना प्रधान होने के कारण तर्क पर आधारित गतिशीलता पात्रों के क्रिया कलापों में सर्वत्र ही दृष्टिगत होती है।

आदर्शोन्मुख 'यथार्थवाद' मनुष्य की दयनीय कुरूपताओं से भरी हुई विषम परिस्थितियों की वास्तविक कठोरता में चमक जाने वाला वह काल्पनिक आलोक होता है जिसके द्वारा जीवन से निराश, परिस्थितियों की मार से घबराये हुए तथा रास्ते में निराश, हताश मानव के अन्दर आशा और विश्वास का संचार होता है। इसके द्वारा ही मानव समाज अपने जीवन की अनेक असफलताओं के बीच निरंतर संघर्ष करते रहने पर भी निराश नहीं होता और भविष्य में जीवन की सफलता की कामना करता रहता है। इस उपन्यास के चरित्र भी इस प्रकार से निर्मित किये गये हैं जो वास्तविक जीवन में हमारे जैसे मनुष्य ही हैं। उन्हें भी छल, दम्भ, द्वेष, पाखंड तथा झूठ से भरे संसार में संघर्षरत रह कर ही आगे बढ़ना पड़ा है। ऐसे पात्रों की अवतारणाओं से ही आशावादी भावात्मक अभिव्यक्ति को चारुत्व प्रदान करने वाली कथावृत्तियों का निर्माण इस कृति में भी किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने कथानक को तत्कालीन समाज एवं मनुष्य के दैनिक जीवन के चित्रण से समृद्ध बनाता है साथ ही अपनी कलात्मक अवधारणाओं और

कल्पनाओं से जो गुणात्मक चित्रण प्रस्तुत करता है, वही श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण का कारण बनता है। सुधीर निगम की विवेक दृष्टि भी वैयक्तिक पूर्वाग्रहों से त्रस्त और ग्रस्त नहीं रही है। उन्होंने अतीत को अतीत ही रहने दिया है। उन्होंने तत्कालीन समाज को अति आधुनिक बनाने का प्रयत्न नहीं किया है।

मानव समाज में आदिम मानव स्त्री प्रधान संस्कृति में रहता था किन्तु शनैः-शनैः पुरुष प्रधान संस्कृति का विकास हुआ। विभीषणकालीन समाज में भी स्त्री महत्वपूर्ण थी तथा पुरुष स्वेच्छाचारी थे किन्तु उस युग में समानान्तर समाज व्यवस्था के अन्य प्रकार भी थे। आर्य संस्कृति, रक्ष संस्कृति और यक्ष संस्कृतियाँ भी अपने-अपने क्षेत्र में उत्कर्ष पर थीं। रावण ने भारतवर्ष में भी अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए थे। इनमें उसके प्रतिनिधि रहते थे जो भारतीय आर्य स्त्रियों का अपहरण भी कर लेते थे। स्वयं रावण का स्वेच्छाचार और आर्य सभ्यता के नियमों का निर्ममतापूर्वक खण्डन करना उसका काम था। इसी प्रकार रक्ष कुल की स्त्रियों का स्वेच्छाचार भी बहुत बढ़ गया था। सूर्पनखा का प्रसंग इस कथन का प्रमाण है जो आगे चलकर राम के विरोध और सीताहरण का कारण बना था। सूर्पनखा की नाक का सम्पूर्ण विच्छेदन नहीं हुआ केवल कुछ खरोच ही लगे थे। किन्तु उसने अपने दुष्कृत्यों को छिपाकर रावण को बहुत बढ़ा चढ़ाकर जो बहकाने वाली शिकायत की थी वह ही अंततः राम-रावण के युद्ध का कारण बनी थी। इस उपन्यास में स्त्री विमर्श के अनेक अछूते संदर्भों को लेखक ने स्पर्श किया है जो उस समय के समाज के स्त्री के संबंध में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराने वाले हैं। प्रथम अध्याय में ही रावण की बहिन चन्द्रनखा का वर्णन आया है, जिसने एक विदेशी से गंधर्व विवाह रचा लिया था। यद्यपि रावण ने इसका खुला विरोध नहीं किया था, किन्तु षड्यंत्र के तहत उसके पति की हत्या कर दी थी। जिससे चन्द्रनखा रक्ष कुल के विरुद्ध बगावत करने पर उतर आई थी किन्तु नीति और अनीति के दांव पेंच में कुशल रावण ने किसी प्रकार उसके विद्रोह को दबा दिया था। मंदोदरी, रावण की पत्नी, कैकसी रावण की माँ और विभीषण की पत्नी सरमा, पुत्री कला आदि अनेक स्त्री पात्र इस उपन्यास को गति

प्रदान करने के कारण बने हैं। उपन्यासकार ने विभीषणकालीन उदार समाज व्यवस्था, रावणकालीन अधिनायकवाद, सामंती संस्कार, सामान्य जन और राज परिवार के रहन-सहन, भोजन, वस्त्र, निवास, कला-कौशल, सैन्य-व्यवस्था और उपकरण, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, शासन व्यवस्था, मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद, सुरक्षा व्यवस्था आदि पर सम्यक प्रकाश डालते हुए ऐतिहासिक उपन्यास की रचनात्मकता को सतत सरस बनाये रखने में, एक रम्याख्यान (रोमांसिक रचना) के समान ही भाव सौन्दर्य, प्रकृति सौन्दर्य, शब्द सौन्दर्य, शिल्प सौन्दर्य को भी अंत तक निभाया है। यह तो कहा ही जा सकता है कि अपनी विषयगत विशेषताओं में गुणात्मक प्रयोजनमूलक विश्लेषण किया जाय तो इस रचना का उद्देश्य अतीत के गौरव और वर्तमान में उसके प्रासंगिक होने का वैचारिक संज्ञान लेना भी हो सकता है। इन उद्देश्यों में अतीत के वैभव का शोधपरक विश्लेषण, कुछ पात्रों के प्रति (जिनको अन्य इतिहासकार न्याय नहीं दिला सके) उनका न्याय दिलाने, (विभीषण इसका उदाहरण है), जाति गौरव, राष्ट्र प्रेम तथा वीर पूजा की भावना जाग्रत करने का कार्य भी इस प्रकार की रचनाएं कर सकती हैं।

इस उपन्यास की भाषा अभिजात्य संस्कारों से युक्त परिनिष्ठित तत्सम शब्दावली से सुशोभित युग सापेक्ष आदर्शों से युक्त सांस्कृतिक अभिप्रायों का सुदृढ़ करने वाली है। भाव सुषमा का वहन करती भाषा की ललित लावण्यता का एक सम्मोहक उदाहरण इन शब्दों में देखा जा सकता है-

क्रीडांगन के मध्य में एक नृत्य मंच निर्मित किया गया था। तभी विद्युत प्रभामयी कलेवर में अनावृत सौन्दर्य समेटे, नीलमणि रक्ताभ नयनों के कटाक्ष फेंकती, मंदिर रंजित अधरों से आमंत्रण-सा देती, गहन मेघ सम श्याम केश राशि से आवृत क्षीण कटि पर लिपटे नील मेघ चर्म पर हेमदान (सोने की करधनी) कसे, पैरों में नूपुर बांधे, मेघ वन में बिजली के फूल की तरह खिले अधखुले अंग लिए दो अप्सराएं मंच पर अवतरित हुईं। दर्शकों की अस्फुट सीत्कार की उपेक्षा करती वे दोनों परस्पर संवाद में संलग्न हुईं तो उनका उन्नत वक्ष तरंगायित हो उठा। दर्शकों में अधैर्य का संचार करने हेतु वे सायास विलंब

कर रही थी। (पृष्ठ-42)

मानवतावादी संस्कारों के प्रवक्ता विभीषण ने अग्रज रावण के यह कहने पर कि “मैं समझता हूँ अनादि ईश्वर प्रदत्त सृष्टि में दिए गये ज्ञान के भीतर मानवों का इतिहास होना संभव नहीं है।” का किस प्रकार न्याय पूर्ण उत्तर दिया था देखें-

क्षमा करें, आपके इस विचार से मैं सहमत नहीं हूँ। जिस ग्रंथ में मानव इतिहास न हो वह मेरे मत से बौद्धिक विलास की वस्तु भर रह जाता है। मानव चाहे साधारण हो या विशिष्ट हर कृति में उपस्थित रहना चाहिए- प्रकट रूप से या प्रकारान्तर रूप से। इससे वर्ग भेद पैदा नहीं होता। (पृष्ठ 51)

हनुमान का स्वात्म संवाद कि “स्त्री का आत्मबल, उसका तेज यदि बना रहे तो कोई पुरुष उसका अहित नहीं कर सकता” (पृष्ठ 67) - आज के समाज और समय के लिए भी प्रासंगिक हो सकता है। रावण के अभिमान, दुर्दम्य दर्प और विलासिता की अनंत लालसा को अपने साहसी वचनों से विरोध जताते हुए विभीषण का यह कथन भी द्रष्टव्य है-

हैं तो मेधावी, शूरवीर, ब्रह्मवेत्ता पर कर्म कैसे! सीताहरण को रक्ष और आर्य संस्कृतियों को व्यर्थ ही टकराव का रूप दे रहे हैं, राम को व्यर्थ ही आक्रमणकारी घोषित कर रहे हैं; अपनी कामातुरता पर आदर्शों की, संस्कृति-रक्षण की व्यर्थ ही भीनी चादर डाल रहे हैं। कामातुर व्यक्ति धर्म और अधर्म में विभेद नहीं कर पाता क्योंकि उसके अंतः चक्षु तो एकदम बंद हो जाते हैं और बाह्य चक्षु भी कामितार्थ के अतिरिक्त और किसी को नहीं देख पाते। (पृष्ठ 99)

‘धर्मात्मा विभीषण’ के प्रणयनकर्ता सुधीर निगम के

अनुसार ‘रामायण’ में राक्षसों की संस्कृति उच्चकोटि की बताई गई है पर इसका विशद वर्णन कहीं नहीं मिलता। लंका की सभ्यता और संस्कृति के जो सूत्र हमें आदि ग्रंथ में मिले हैं उन्हें संयोजित और पल्लवित कर उपन्यास की विषय वस्तु में अनुस्यूत किया है।” लेखक ने वानर पुरुषों में पूँछ का होना राक्षसों का भयानक और कई मुखों का होना भी स्वीकार नहीं किया। इन तथ्यों को कई प्रामाणिक कथा सूत्रों में भी संयोजित किया गया है तथा पूँछ को आभूषण तथा कई मुख होने को मुखौटा पहिनना माना है। कला और अंगद का विवाह कराकर लेखक ने जातिगत समीकरणों को आधुनिक संदर्भों से प्रगतिशील बनाया है।

सुधीर निगम ने महाभारतकालीन पात्र ‘धृतराष्ट्र’ को भी अपने पूर्ववर्ती उपन्यास ‘मैं धृतराष्ट्र हूँ’ में नूतन दृष्टिकोण से न्याय दिलाने का प्रयत्न किया है, और इस कृति के महानायक विभीषण को भी धर्मात्मा कहकर अभिहित ही नहीं किया अपितु कथानक के विस्तार में उसको भी पूर्णतया मानवतावादी सद्पुरुष का पद प्रदान किया है। निःसंदेह श्री निगम की यह उपन्यास-कला भारतीय संस्कृति के रस से सिक्त होकर अपने पूर्ववर्ती साहित्य की आधार भूमि पर उगकर तथा विज्ञान किरणों की ऊष्मा प्राप्त करके पाश्चात्य साहित्य की सुखद वायु में विकसित होकर पल्लवित और पुष्पित हुई है। आशा है आगे भी यह पुष्प साहित्य की सुरभि के संवाहक बनकर अमृतोपम ग्रंथ फलों को मानवता के हित के लिए प्रस्तुत करने में सफल होंगे।

आधार उपन्यास- धर्मात्मा विभीषण

रचयिता : सुधीर निगम

प्रकाशक: ज्ञान गंगा, 205-सी चावडी बाजार, दिल्ली- 110006

संस्करण : 2012, मूल्य : 250/- रुपये

संपर्क : 119/462, दर्शनपुरवा, कानपुर-208012, मो. 9839202423

लेखक- संपर्क: 104ए/315, रामबाग, कानपुर- 208012, मो. 9839164507

अ-व्यवस्थित लोकतंत्र और साहित्यिक पत्रकारिता

प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी

आजादी के बाद साहित्यिक पत्रकारिता का परिदृश्य तकरीबन इकसार रहा है। पहले भी पत्रिकाओं का प्रकाशन निजी पहल पर निर्भर करता था, आज भी यही दशा है, पहले भी साहित्यिक पत्रिकाएँ निकलती और बंद होती थीं, यही सिलसिला आज भी जारी है। अनियतकालीन प्रकाशन इसकी नियति है। अधिकतर साहित्यिक पत्रिकाएँ निजी अर्थव्यवस्था यानी संपादक के निजी निवेश पर निर्भर हैं, ये पत्रिकाएँ संपादकीय जुनून का परिणाम हैं। साहित्यिक पत्रिकाएँ साहित्य का माहौल बनाती हैं। हिंदी में पत्रिकाएँ मूलतः गुट विशेष का प्रकाशन हैं, वे गुट विशेष के लेखकों को छापती हैं।

खासकर बुद्धिजीवी वर्ग में सन् 1970-71 के बाद सत्ता सुख का जो मोह पैदा हुआ उसने अधिकांश बड़े लेखकों को सत्ता के करीब पहुँचा दिया और इसका परिणाम यह निकला कि साहित्य और साहित्यकार की नई भूमिका का उदय हुआ। साहित्य अब परिवर्तनकारी कम और सत्ताकारी ज्यादा हो गया। आपातकाल इसका क्लासिक नग्नतम उदाहरण है। आपातकाल के बाद तो स्थितियाँ लगातार खराब ही हुई हैं। सत्ता के प्रतिष्ठानों के इर्द गिर्द साहित्यकारों को गोलबंद किया गया। कई व्यक्ति और संस्थान सत्ता के केन्द्र बनकर उभरे। इनके हस्तक्षेप के कारण साहित्य का स्वतंत्र विकास बाधित हुआ, साहित्यिक पत्रिकाएँ मेनीपुलेशन और प्रमोशन का अस्त्र बन गयीं। चंद व्यक्ति महान बन गए, वे ही तय करने लगे कि कौन लेखक है और लेखक नहीं है! इस अर्थ में 1970 के बाद क्रमशः साहित्य की अवनति हुई।

साहित्यिक विवेकवाद : आज हमारे बीच में साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं, साहित्य भी है लेकिन संपादकीय विवेक नदारत है। विचारधारा है और उसके आधार पर धड़ेबंदी है, लेकिन साहित्यिक विवेकवाद गायब है। साहित्यिक पत्रिकाओं से संपादकीय विवेकवाद का नदारत होना बहुत बड़ी त्रासदी है। नियोजित बहसें हैं, प्रमोशन के लिए आलोचनाएं हैं, मांग-पूर्ति के आधार पर लिखा गया साहित्य है, किताबें हैं। स्वयं नामवर सिंह कह चुके हैं कि “मैं फरमाइशी लेखक हूँ”, वे यह भी रहस्य खोल चुके हैं कि उन्होंने ‘कविता के नए प्रतिमान’ किताब को भारत भूषण अग्रवाल के कहने से साहित्य अकादमी पुरस्कार के लिए लिखा था।

साहित्य में इन दिनों लेखन के आधार पर छोटे-बड़े लेखक का फैसला नहीं हो रहा, बल्कि

रुतबा, संपदा, ओहदा और सरकारी रसूख के आधार पर फैसले हो रहे हैं। लेखक की स्वतंत्रता महत्वपूर्ण मूल्य नहीं है, लेखक के सत्ता संबंध बड़ा मूल्य हो गया है, इसने साहित्यिक पत्रिकाओं में नए किस्म के नियोजित साहित्य विमर्श को प्रतिष्ठित किया है। जिसकी सत्ता में साख है, वही बड़ा लेखक है। इसका परिणाम यह निकला कि लेखकों में सत्ता से जुड़ने की अंधी दौड़ शुरू हुई है। इसका सबसे बढ़िया केन्द्र बने अकादमिक संस्थान और लेखक संघ। इससे लेखक के कर्म और विचार में गहरी दरार पैदा हुई। लेखन का यथार्थ से संबंध खत्म हो गया। लेखन यानी शब्दों का उत्पादन इसका लक्ष्य है। आज लेखक है, साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं, संपादक भी हैं, लेकिन साहित्य का सामाजिक असर नहीं है, लेखक की कोई सामाजिक साख नहीं है। लेखक ने अपने सत्तासुख के कारण सभी किस्म के विमर्शों को प्रशंसा और प्रमोशन में संकुचित कर दिया, 'विचार मंथन' को 'साहित्यिक इवेंट' में तब्दील कर दिया।

साहित्य उत्पादक या प्रकाशक : हिंदी में साहित्यिक पत्रकारिता को अनेक लेखक प्रतिवादी पत्रकारिता मानते हैं, इस तरह की धारणा रखने वालों में सामान्य लेखक, दलित लेखक और स्त्री लेखिकाएँ भी हैं। सामान्य तौर पर देखें तो हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता का परिदृश्य वैविध्यपूर्ण है और इसमें विधागत समृद्धि भी है। इसका स्वैच्छिक पहलकदमी के आधार पर प्रकाशन होता रहा है। वाल्टर बेंजामिन के अनुसार प्रतिवादी या परिवर्तनकारी पत्रकारिता या साहित्य में अंतर्वस्तु महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है इसके उत्पादन की अवस्था। कई बार यह भी देखा गया है कि बेहतरीन क्रांतिकारी अंतर्वस्तु को श्रेष्ठतम- व्यावसायिक कला रूपों में पिरोकर पेश किया जाता है। इससे क्रांतिकारी कला का स्वरूप प्रभावित होता है। इसलिए यह सवाल नहीं करना चाहिए कि पार्टनर तेरी पॉलिटिक्स क्या है? या साहित्य की राजनीति क्या है, यह सवाल ही गलत है। सवाल यह होना चाहिए कि कला के उत्पादन की राजनीति क्या है? ज्योंहि इस सवाल पर विचार करेंगे सही रूप में प्रतिवादी संस्कृति को परिभाषित कर पाएंगे। बेंजामिन तर्क देते हैं कि सही अर्थ में प्रतिवादी संस्कृति उत्पादन की

विशेषज्ञतापूर्ण प्रक्रिया का अतिक्रमण करती है। दूसरे शब्दों में प्रतिवादी संस्कृति कलाकार और दर्शक, निर्माता और उपभोक्ता के बीच की विभाजन रेखा को कम करती है। छोटे-बड़े या ऊँच-नीच, श्रेष्ठ और निकृष्ट के श्रम विभाजन को खत्म करती है। वह सबको सृजन के लिए प्रेरित करती है। हमें इस समूची बहस को प्रोडक्ट केन्द्रित न बनाकर प्रोडक्शन केन्द्रित बनाना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि हिंदी पत्रिका संपादक साहित्य का उत्पादक नहीं बन पाया, लेकिन प्रकाशक बन गया। वह प्रोडक्ट बनाता है।

आधुनिककाल आने के साथ छापे की मशीन आई, लेखक की स्वायत्ता पहली बार नजर आई वह जो उचित समझे लिख सकता है, इस अनुभूति को उसने प्रत्यक्ष वैध रूप में लागू किया। पहली बार दो तथ्य सामने आए, इन दोनों तथ्यों की रोशनी में लेखन की परीक्षा होने लगी। पहला, लेखक का राजनीतिक नजरिया और दूसरा रचना की गुणवत्ता। लेखक के सही राजनीतिक नजरिए और साहित्यिक गुणवत्ता के बीच नए संबंध का जन्म हुआ। यह भी कहा गया कि जब राजनीति सही होगी तो अन्य चीजें भी दुरुस्त होंगी।

वाल्टर बेंजामिन का मानना है कि सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पादन की अवस्था तो तय करती हैं। और जब भौतिकवादी नजरिए से देखना आरंभ करते हैं तो विचार करते हैं कि सामाजिक संबंधों का तत्कालीन समय के साथ क्या संबंध था? साहित्य के लिए यह महत्वपूर्ण सवाल है। बेंजामिन ने इसी प्रसंग में दो बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल उठाए हैं, पहला सवाल, साहित्य का अपने समय के उत्पादन संबंधों के साथ क्या संबंध है? क्या वह उनको स्वीकार करता है? क्या वह प्रतिक्रियावादी है? अथवा उसका नजरिया प्रतिकामी है? या वह क्रांतिकारी है? इन सवालों पर विचार करने से पहले हम इस सवाल पर सोंचे कि अपने समय के उत्पादन संबंधों के प्रति क्या एटीट्यूट है? उनका नीतिगत नजरिया क्या है? यह सवाल असल में सामयिक उत्पादन संबंधों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य की भूमिका से जुड़ा है। इसका प्रकारान्तर से 'तकनीक' के सरोकारों से संबंध है।

बेंजामिन के अनुसार 'साहित्यिक तकनीक' की अवधारणा

के आधार पर देखेंगे तो पाएंगे कि साहित्यिक उत्पाद (प्रोडक्ट) सीधे सामाजिक या भौतिक मूल्यांकन के लिए उपलब्ध रहता है। साथ ही साहित्यिक तकनीक की अवधारणा के आधार द्वंद्वात्मक ढंग से विवेचन को आरंभ किया जा सकता है। इसके जरिए साहित्य की रूप और अंतर्वस्तु की निरर्थक बहस से भी बचा जा सकता है। इसके अलावा प्रवृत्ति और गुणवत्ता के निर्धारकों की खोज की जा सकती है। बेंजामिन के अनुसार कृति की राजनीतिक प्रवृत्ति में साहित्यिक गुणवत्ता और साहित्य प्रवृत्ति शामिल है। साहित्य प्रवृत्ति में साहित्यिक तकनीक की प्रगति या प्रतिगामिता भी समाविष्ट है।

साहित्य के उत्पादन पर विचार करते समय इसकी अनिवार्य अवस्था पर भी सोंचे। साहित्य किस तरह की अनिवार्य परिस्थितियों में पैदा हो रहा है। इससे लेखन की ठोस परिस्थितियों का पता चलेगा, यह भी पता चलेगा कि लेखक के पास व्यवहार में कितनी स्वायत्तता है। इस समूची प्रक्रिया पर नजर रखते हुए सही राजनीति और प्रगतिशील साहित्यिक तकनीक के अन्तस्संबंध को समझने में मदद मिलेगी। मसलन्, साहित्यिक पत्रिकाएँ लेखक-पाठक को सूचित कर रही हैं, विवेचन पेश किया जा रहा है। लेखक परिस्थितियों में हस्तक्षेप कर रहा है या दर्शक मात्र है? हिंदी पत्रिकाओं में लिखने वाले अधिकांश लेखक रुढ़िबद्ध शैली के शिकार हैं। सवाल यह है कि क्या रुढ़िबद्ध लेखन के जरिए सामाजिक परिवर्तन संभव है? इस तरह के लेखन का किस पर और कितना असर होता है? इस तरह के लेखन ने लेखक और पाठक के बीच में अलगाव पैदा किया।

‘एक्टिविज्म’ या प्रतिगामिता : साहित्यिक पत्रकारिता और खासकर वामपंथी साहित्यिक पत्रकारिता पर बुर्जुआ प्रेस के विकास का क्या असर हुआ है इस पर भी विचार करने की जरूरत है। मुश्किल यह है कि वाम पत्रिकाएँ हस्तक्षेप के औजार की तरह इस्तेमाल होती रही हैं, यही काम इन दिनों दलित पत्रिकाएँ भी कर रही हैं। इन पत्रिकाओं में बुर्जुआ अवस्था के स्वाभाविक रुझानों और प्रवृत्तियों को लेकर कोई गंभीर विवेचन नजर नहीं आता। ये असल में ‘एक्टिविज्म’ की पत्रिकाएँ हैं, इनकी सतह पर दिखने

वाली राजनीतिक प्रवृत्ति क्रांतिकारी लगती है लेकिन असल में वो प्रति-क्रांतिकारी भूमिका अदा करती है। मसलन् दलित साहित्य पर हिंदी पत्रिकाओं के अनेक विशेषांक आए हैं, तमाम दलित पत्रिकाएँ छप रही हैं। इनकी समग्रता में क्या भूमिका उभरकर सामने आ रही है? इनकी संस्कारगत सहानुभूति दलित के साथ है लेकिन वे इसके आगे उसे देख ही नहीं पा रहे हैं। उनके पास दलित मुक्ति का कोई ब्लू-प्रिंट नहीं है। ये सभी पत्रिकाएँ ‘एक्टिविज्म’ की कटेगरी में आती हैं। इनमें शाब्दिक जनतंत्र के सहारे दलित के प्रति सहानुभूति पैदा करने की कोशिश की जा रही है। इसी शब्द केन्द्रकता (लोगोकेसी के सहारे ही बुद्धिजीवियों) का समूचा तंत्र खड़ा है। वे ‘एक्टिविज्म’ के जरिए साहित्य की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया पर पर्दा डाले रखना चाहते हैं। बेंजामिन के शब्दों में कहें तो इस तरह के लेखन की अंतर्वस्तु सामूहिक है लेकिन रूप प्रतिक्रियावादी है। फलतः ऐसी रचनाओं का असर क्रांतिकारी नहीं हो सकता।

अनेक साहित्यिक पत्रिकाओं और लेखकों में सामूहिकता बोध बार-बार व्यक्त हुआ है। लेकिन पत्रिकाएँ व्यक्तिगत प्रयासों से ही निकल रही हैं, सामूहिक प्रयासों से निकलने वाली पत्रिकाएँ नगण्य हैं। राजनीतिक हालात की पार्टी नीति के अनुरूप व्याख्याएँ करना या सत्ताधारी वर्गों के द्वारा प्रक्षेपित मसलों पर लिखना, क्रांतिकारी काम नहीं है, बल्कि प्रति-क्रांतिकारी कार्य है।

कायदे से हमें कल्याणकारी पूंजीवादी राज्य में रूपान्तरण की प्रक्रिया और रूपान्तरण के क्रांतिकारी उपकरणों का पता होना चाहिए। हमें उत्पादक एपरेटस और रूपान्तरण के रूपों का ज्ञान होना चाहिए। हमें इस बात का पता रहना चाहिए कि बुर्जुआ एपरेटस में क्रांतिकारी कलाओं और साहित्य रूपों को आत्मसात करके रूपान्तरित करने की अद्भुत क्षमता होती। हम सोंचे कि हमारे तमाम किस्म के क्रांतिकारी लेखकों-संगीतकारों आदि को फिल्मी दुनिया ने कैसे हजम कर लिया? वाम लेखक मनोरंजन का साधन कैसे बन गया?

राजनीतिक नजरिया : हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के प्रसंग में यह सवाल उठाया ही जा सकता है कि साहित्यिक पत्रिका का कोई राजनीतिक नजरिया है या नहीं,

पत्रिका की राजनीतिक समझ के साथ उसमें प्रकाशित सामग्री का किस तरह का संबंध है? सही राजनीति के तहत निकलने वाली पत्रिकाओं की गुणवत्ता और खराब राजनीति या राजनीतिविहीन नजरिए से निकलने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं के चरित्र में किस तरह का फर्क होता है। हिंदी में तीन तरह की पत्रिकाएँ हैं पहली कोटि में वे पत्रिकाएँ आती हैं जिनका राजनीतिक नजरिया है, दूसरी कोटि में वे पत्रिकाएँ आती हैं जिनका कोई राजनीतिक नजरिया नहीं है जबकि तीसरी कोटि में वे पत्रिकाएँ आती हैं जिनका तदर्थवादी राजनीतिक नजरिया है।

साहित्यिक पत्रिकाओं की कहानी उनके मालिक संपादक के आर्थिक पहलू के बिना पूरी नहीं होती, हमारे यहां कभी यह ध्यान ही नहीं दिया गया कि पत्रिका का आर्थिक बोझ संपादक कैसे उठाता है? पत्रिकाओं में संपादक के आर्थिक संकट के विस्तृत ब्यौरे गायब हैं। हमने स्वतंत्र तौर पर भी कभी संपादक की आर्थिक बर्बादी को पत्रिकाओं में विषय वस्तु नहीं बनाया। पत्रिकाओं की आर्थिक बर्बादी की न तो दलों को चिंता है और न सरकार को।

पत्रिकाओं के सर्कुलेशन का एक आयाम वितरण और डाक व्यवस्था के मूल्य सिस्टम से जुड़ा है। सरकार ने कभी सोचा ही नहीं कि पोस्टल चार्ज ज्यादा रहेगा तो साहित्य का सर्कुलेशन इससे प्रभावित हो सकता है। हमारे सांसदों, लेखकों और प्रशासकों ने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया।

साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन परिदृश्य की बुनियादी समस्या यह है कि संपादकों में अधिकतर पेशेवर नजरिया नहीं रखते। पेशेवर नजरिए के आधार पर पत्रिका का प्रकाशन नहीं करते। वे पूंजीवादी प्रकाशन प्रणाली के आदिम रूपों का इस्तेमाल करते हैं और आदिम वितरण प्रणाली पर निर्भर हैं। इसके कारण वे बड़े पैमाने पर अपना विकास नहीं कर पाए हैं। दुखद यह है कि साहित्यिक पत्रिका प्रकाशन की मददगार संरचनाएँ समाज में एकसिरे से गायब हैं।

साहित्यिक पत्रिकाएँ ज्यादा से ज्यादा फलें-फूलें इसके लिए जरूरी है कि उनको सरकारी विज्ञापन प्राथमिकता के आधार पर राज्य और केन्द्र सरकार दे। साथ ही पत्रिकाओं

को मिलने वाले चंदे पर आयकर में राहत दी जाय। डीएवीपी और राज्य सरकारों के सरकारी विज्ञापनों के 25 फीसदी विज्ञापन अनिवार्यतः साहित्यिक पत्रिकाओं को दिए जाएं। इसके अलावा विभिन्न मंत्रालयों से प्राथमिकता के आधार 25 फीसदी विज्ञापन साहित्यिक पत्रिकाओं को दिए जाएं। पत्रिकाओं के पोस्टल वितरण के लिए कानूनी व्यवस्था की जाय और पत्रिका वितरण को मुफ्त पोस्टल सुविधा दी जाय।

साहित्यिक पत्रिकाएँ हमेशा से बड़े के खिलाफ छोटे की जंग रही हैं। बड़े कम्युनिकेशन या प्रतिष्ठानी कम्युनिकेशन और साहित्यिक कम्युनिकेशन के बीच में अंतर्विरोध रहा है, शासकवर्ग और साहित्यिक पत्रिकाओं के बीच अंतर्विरोध रहा है। अंतर्विरोध को विस्तार देने की जरूरत है।

लेखक : हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं ने लेखक की किस तरह की इमेज निर्मित की है और लेखक को वे किस रूप में देखती हैं, यह सवाल विचारणीय है। दुखद यह है कि आपातकाल के दौरान लेखक के दायित्व पर अमूर्तन में बातें हो रही थीं, 'आलोचना' (जुलाई-दिसम्बर 1975) को नमूने रूप में देख सकते हैं। आपातकाल के दौरान या उसके पहले या बाद में लेखक की सबसे बड़ी भूमिका है कि लेखक मात्र लेखक नहीं रहा बल्कि लेखक अब राजनीतिक कार्यकर्ता बनकर सामने आता है, सत्ता का पुर्जा बनकर सामने आता है, साहित्य में राजनीति छा जाती है, यह सिलसिला 1960-61 के बाद से ही सामने आने लगा था, 'प्रलेस' की विरासत से इसका गहरा संबंध है।

साहित्य, साहित्यकार और राजनीति में संबंध का होना अच्छी बात है लेकिन इस क्रम में दलीय राजनीति का पक्षधर बन जाना लेखक की सबसे बुरी बात है। लेखक के लिए देश की जनता के हितों और अधिकारों से ज्यादा अपने दलीय आग्रहों से मोह पैदा हो गया, लोकतंत्र से बड़ा दल हो गया, राजनीति हो गयी, समाज के कटु-यथार्थ की बजाय उसने दलीय राजनीतिक यथार्थ को प्रमुखता देने का मन बना लिया, न्याय की बजाय उन्होंने सत्ता के हितों के इस या उस पहलू पर केन्द्रित होकर लिखना पसंद किया। इसने लेखक को पूरी तरह राजनीति के मातहत बना दिया।

मजेदार बात यह है कि लेखक आया था राजनीति को

दिशा देने लेकिन व्यवहार में राजनीति ने लेखक को दिशा देना आरंभ कर दिया। इसमें लेखक का राजनीतिक और नैतिक पतन हुआ। लेखक के इस तरह के पतन में राजनीतिक आग्रहों के अलावा आर्थिक कारणों की बड़ी भूमिका रही है। लेखक ने कभी गंभीरता से अपने आर्थिक कारणों की विवेचना ही नहीं की। लेखक के संकट का बुनियादी कारण आर्थिक है। यह संकट राजनीति का नहीं है यह साहित्य या विज्ञान का भी पैदा किया संकट नहीं है। इसके कारण हमारे समाज में लेखक का आकर्षण घटा है। दूसरी ओर तुलनात्मक तौर पर वैज्ञानिक, समाजविज्ञानी आदि के प्रति आकर्षण बढ़ा है।

इस प्रसंग में मुझे उ.रा.अनन्तमूर्ति का 'भारतीय लेखक: अस्मिता की खोज' नाम से दिया गया भाषण याद आ रहा है। यह भाषण उन्होंने अरविंद शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में दिया था और आपातकाल के दौरान ही 'आलोचना' पत्रिका ने इसे छपा था। यह भाषण अनेक महत्वपूर्ण बिंदुओं पर रोशनी डालता है। खासकर इस सवाल को बारीकी से उठाता है कि भारतीय लेखक की पहचान क्या है? लेखक की पहचान लोकतंत्र और लोकतांत्रिक मूल्यों से बनती है। जब लोकतंत्र पर हमले हो रहे हों, अभिव्यक्ति की आजादी छीन ली गयी हो, ऐसे में लेखक का सबसे पहला सवाल तो अभिव्यक्ति की आजादी के अपहरण से ही जुड़ा होगा, लेकिन अनन्तमूर्ति को यह सवाल दिखाई ही नहीं दिया। इसी तरह आपातकाल में 'आलोचना' पत्रिका ने कोई संपादकीय नहीं लिखा, संपादक नामवर सिंह ने कोई निबंध इस प्रसंग में नहीं लिखा, मजेदार बात यह है कि 'आलोचना' (अप्रैल-जून 1976) में 'लेखक का दायित्व' शीर्षक से लेख छपा है लेकिन आपातकाल का कहीं जिक्र तक नहीं है। मैनेजर पांडेय का लेख छपा है शीर्षक है 'समकालीन इतिहास-विरोधी साहित्य-चिंतन', विजेन्द्र का 'समकालीन कविता और सामाजिक यथार्थ' नामक लेख है, इस तरह के और भी कई लेख हैं लेकिन कहीं पर भी आपातकाल का कोई जिक्र तक नहीं है। गोया, आपातकाल कोई घटना ही न हो। सबसे रोचक बात यह कि जिस समय आपातकाल लगा यानी 25 जून 1975 के दिन उसके तत्काल बाद आलोचना ने धूमिल की स्मृति में विशेषांक निकाला। धूमिल

की मौत 10 फरवरी 1975 को हुई थी, इस पूरे अंक में आपातकाल का जिक्र नहीं है। राजनीति से इस तरह की दूरी या अलगाव क्या किसी भी तर्क से स्वीकार्य है? इस अंक में धूमिल की सात अप्रकाशित कविताएँ छपी हैं, इनमें दो कविताएँ 'प्रजातंत्र के विरुद्ध' और 'खेवली'। 'खेवली' कविता में कवि ने लिखा है- *"वहां न जंगल है न जनतंत्र/ भाषा और गुंगेपन के बीच कोई / दूरी नहीं है/.... और अब तो ऐसा वक्त आ गया है कि सच को भी सबूत के बिना/ बचा पाना मुश्किल है।"* इस अंक में धूमिल पर काशीनाथ सिंह, विनोद भारद्वाज, विश्वनाथ त्रिपाठी, गोविंद उपाध्याय, रामकृपाल पाण्डेय, रामवक्ष, विष्णु चंद्र शर्मा के लेख हैं लेकिन किसी में भी आपातकाल पदबंद तक का जिक्र नहीं है। यह अंक चूंकि आपातकाल के तत्काल बाद आया था, इसमें किसी भी रूप में आपातकाल का जिक्र न होना हमें सोचने को विवश करता है कि हम किस तरह साहित्यिक पत्रकारिता विकसित करना चाहते हैं? क्या साहित्यिक पत्रकारिता का सामयिक राजनीति से संबंध होना चाहिए? क्या साहित्यिक पत्रकारिता को राजनीति से दूर रहना चाहिए? क्या साहित्यिक पत्रिकाओं में सिर्फ साहित्य और उसके विधारूपों पर ही सामग्री होनी चाहिए या फिर उसमें इतिहास, संस्कृति, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर भी सामग्री होनी चाहिए।

इस प्रसंग में सबसे बड़ा सवाल यह है कि साहित्यिक पत्रिकाओं ने किस तरह का लेखक निर्मित किया? हमारा लेखक कैसा है। उसकी मनोरचना और सामाजिक संरचना किस तरह की है? आजादी के बाद पैदा हुए लेखक और पहले वाले लेखक में क्या अंतर है? अनन्तमूर्ति ने लिखा है कि आजादी के पहले के अनुभव से गुजरे लेखक आजादी की लड़ाई में शरीक थे और सोचते थे कि वे लोग भारत की आजादी की लड़ाई में शरीक थे और सोचते थे कि भारत की जनता के साथ उनका भाग्य भी जुड़ा है जबकि स्वतंत्रता के बाद की पीढ़ी भारत की जनता के साथ ऐसा कोई तादात्म्य महसूस नहीं करती है। वे स्वयं यह महसूस करते थे कि उन्होंने ऐसा बहुत कुछ लिखा है जो केवल लिजलिजा, भावुकता भरा और पुनर्जागरणवादी है। मुझे तो उनके हाथ से बुनी खादी के कपड़ों तक से ईर्ष्या है

जो गाँधीजी के जमाने में एक समतावादी प्रतीक थे लेकिन आज ऐसा नहीं है क्योंकि वैसे कपड़े आज हमारे भ्रष्ट राजनेताओं द्वारा पहने जाते हैं। हम आज ऐसा आत्मविश्वास नहीं रखते कि हम एक साथ पूरी समग्रता से वैयक्तिक और सार्वजनिक हो सकते हैं। किसी भी महान कला सर्जना के लिए ऐसा आत्मविश्वास आवश्यक है। इसी का परिणाम है कि हम केवल 'रीएक्ट' करते रहते हैं, 'क्रीएट' नहीं करते हैं। हम निहायत असंगत चीजों की हिमाकत करते हैं या फिर इसी की प्रतिक्रिया में उस आधिकारिक भारतीय ग्रामीण की प्रशंसा करते हैं। यह सब हमारी अपनी अनिश्चितताओं को मुखौटा पहनाने के लिए। (आलोचना, जुलाई-दिसम्बर, 1975)

यह सही है कि पुराने लेखक के पास स्वाधीनता संग्राम का अनुभव था, उस दौर की संवेदनाएं थीं जिनके आलोक में वह लोकतंत्र को देखता था, लेकिन मुश्किल यह है कि वह वह लेखक है जिसने अपने स्वभाव और नजरिए का पूरी तरह लोकतांत्रिकीकरण नहीं किया था। वह लोकतंत्र की चुनौतियों से अनभिज्ञ था। इस लेखक के पास गंभीर सामाजिक नजरिया था लेकिन लोकतांत्रिक मूल्यों की जटिलता और उनके निर्माण की प्रक्रियाओं से अनभिज्ञ था। वह लोकतंत्र में अपने पुराने उपनिवेश विरोधी वैचारिक नजरिए के साथ दाखिल हुआ और इस नजरिए के लेखकों को जल्द ही शीतयुद्धीय राजनीति ने अपनी गिरफ्त में ले लिया। शीतयुद्धीय राजनीति की गिरफ्त से लेखक कैसे मुक्त हो इसे न तो रामविलास शर्मा जानते थे और न अज्ञेय ही जानते थे, जबकि दोनों के पास साम्राज्यवाद विरोधी नजरिया था। फलतः लेखक के जीवन में लोकतंत्र को लेकर सही समझ पैदा होने की बजाय संशय और अनिश्चितता पैदा हुई। त्रासद यह पहलू था कि लेखक रह रहा था लोकतंत्र में लेकिन पुराने साम्राज्यवाद विरोधी भावबोध के साथ साम्राज्यवाद विरोधी भावबोध को उसने लोकतांत्रिक भावबोध में रूपांतरित नहीं किया। यही वह बिंदु है जहां पर हम लोकतंत्र पर हमले के समय नामवर सिंह जैसे लेखक को असहाय पाते हैं, रामविलास शर्मा जैसे विचारक को गुंगा पाते हैं। एक अन्य समस्या यह है कि हमने लोकतंत्र और लेखक के रिश्ते की नये दौर और नई

सामग्री के आलोक में ठीक से कभी मीमांसा ही नहीं की। लोकतंत्र-साहित्य और साहित्यकार के अंतर्संबंध पर विचार ही नहीं किया, उलटे लोकतंत्र को हिकारत, तिरस्कार और उपेक्षा के भाव से देखा। इसने लेखक को लोकतंत्र में रहने के बावजूद लोकतंत्र के प्रति बेगाना बना दिया।

अनंतमूर्ति ने लिखा है 'नयी भारतीय अस्मिता का उभार नये और पुराने के मिश्रण से नहीं उठा है बल्कि दोनों के साथ जीने से जो द्वंद्व पैदा होता है उससे उठा है और यही द्वंद्व हमारी भाषाओं की प्रतिभा का बीज है।' सवाल नए और पुराने के द्वंद्व का नहीं है, सवाल यह है कि लोकतंत्र में लेखक किस तरह की द्वंद्ववादी प्रक्रियाओं से गुजरता है? द्वंद्ववादी प्रक्रियाएँ किस तरह लेखक निर्मित करती हैं? क्या लेखक इस प्रक्रिया से वाकिफ है?

अनंतमूर्ति ने दो साहित्यों के बीच तीन तरह के संबंधों की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है 'पहला मालिक और नौकर का, दूसरा बराबरी का संबंध, तीसरा एक विकसित देश और विकासमान देश के बीच का संबंध जैसा पहले संबंध का उदाहरण गोरे लोगों का काले लोगों पर अपनी संस्कृति थोपने का तरीका, जैसा कि अमेरिका में हुआ है। फिर भी कोई भी आरोपण पूरी तरह से सफल नहीं हो सकता जैसे संगीत में, साहित्य में काले लोगों की अल्पसंख्यक संस्कृति ऐसे किसी रचनात्मक बिंदु को सुरक्षित रख सकती है जिसका कि असर पूरे देश के साहित्य पर हो। अंग्रेजी और फ्रांसीसी साहित्य का मिलाप दूसरी तरह के संबंध का उदाहरण है। जब एक फ्रांसीसी इतिहासकार अंग्रेजी साहित्य का इतिहास लिखता है तो यह संभव है कि उसको प्रत्येक महत्वपूर्ण अंग्रेजी लेखक के पीछे कोई फ्रांसीसी लेखक नजर आये।' तीसरी तरह का संबंध पहले दो संबंधों से कुछ ज्यादा जटिल है। मैं पूर्व-पश्चिम के संबंध जैसे जुमले का प्रयोग न करके आर्थिक विभाजनों के अन्तर्गत ऐसे संबंधों को समझना चाहता हूँ क्योंकि उस तरह के जुमलों में जन्मी विचार पद्धतियाँ बहुधा सीधी सादी होती हैं। जैसा कि मेरी बात से स्पष्ट है इसका परिणाम या तो सीधी नकल है या कोरा कंजरवेटिज्म। क्योंकि मैं भारत में जन्मा हूँ सिर्फ इसीलिए मैं यह सोचने से इंकार करता हूँ कि टॉल्स्टॉय या कि शेक्सपियर के बारे में सोचना कोई

अपराध है अथवा मेरी अपनी भाषा के महाकवि पम्प के बारे में सोचने में नहीं। जब मैं यह कहता हूँ तो मुझे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि मेरी अपनी भाषा के उपन्यासकार कारन्थ के उपन्यास हालांकि वे विश्व साहित्य के समकक्ष नहीं रखे जा सकते जिनकी मैं प्रशंसा करता हूँ लेकिन फिर भी मेरे लिए उनके उपन्यास ही मेरी संवेदना को निर्मित करने में ज्यादा प्रासंगिक हैं।' साहित्य में जिन संबंधों के बारे में अनंतमूर्ति ने लिखा है, वे तीनों संबंध अपनी जगह सही हैं। लेकिन इसमें एक खास किस्म का स्थानीयतावाद भी है। साहित्य कम से कम स्थानीयतावाद नहीं होता। उसमें देशज भाषा की परंपराएँ होती हैं और उनसे लेखक बनता है, प्रभाव ग्रहण करता है, यह सच है कि कारन्थ का उपन्यासकार के रूप में अनंतमूर्ति पर असर ज्यादा होगा लेकिन आधुनिककाल में साहित्य रूपों से लेकर नजरिए तक लेखक पर ग्लोबल परंपराएँ और ग्लोबल वैचारिक संघर्ष असर डालते हैं। लेखक की संवेदना मात्र स्थानीय साहित्य से निर्मित नहीं होती, यह सही है कि स्थानीय ज्यादा प्रासंगिक होता है। लेकिन लेखक के लिए स्थानीय वह भी है जो उसके युग का नहीं है। मसलन् ऐतिहासिक उपन्यास में लेखक मात्र स्थानीय तक सीमित नहीं रहता। उसे वर्तमान के आलोक में लंबी उड़ान भरनी पड़ती है।

अनंतमूर्ति ने सही कहा कि 'पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव या तो वस्तुस्थिति के साथ हमारी शिरकत को और भी मजबूत बना सकता है और या फिर हमारी समस्याओं की ओर से हमारे ध्यान और हमारी प्रासंगिकता को कहीं दूर उड़ा ले जा सकता है। यही समस्या की जड़ है- तब फिर अच्छे संबंध कैसे संभव हैं? क्या कभी दो समान लोगों के प्रगाढ़ संबंध तब तक संभव हैं जबकि ऐसा प्रयास केवल इकतरफा हो? अमेरिका को हमारे गुरुओं की जरूरत है, लेकिन क्या वह कभी हमारे कवियों और उपन्यासकारों की जरूरत महसूस करेगा और उनको उतना महत्व देगा जितना कि हम अमेरिकी लेखकों को देते हैं? उन्हें ऐसा महत्व देना भी जरूरत से ज्यादा है और यह हमारी दूसरी समस्या है कि हम पाश्चात्य देशों की राय के प्रभाव में आकर बिना किसी आलोचनात्मक दृष्टिकोण के अमरीकी लेखकों को स्वीकार कर लेते हैं।'

भारतीय लेखकों में 'पीछे देखने वाले, इधर-उधर देखने वाले अथवा आगे देखने वाले' लेखक पाये जाते हैं। अनंतमूर्ति ने लिखा 'पीछे देखने वाले लोग इस भ्रांति को पालते हैं कि समस्याओं के समाधान भूतकाल को लौटाने में ही हैं। (लेकिन हमारे भूतकाल का कौन-सा पहलू? ये पुनर्जागरणवादी लोग इस मामले में भी बहुत ही काइयाँ हैं; ये लोग हमारे भूतकाल के उस संशयवादी और विवेकवादी पहलू को बिल्कुल अनदेखा कर देते हैं।) अगर उच्चवर्गीय भारतीयों की यह स्थिति है तो कॉसमोपोलीटन लोग हमेशा इधर-उधर देखते हैं सोचते हैं, हम अमेरिका जैसे होंगे? रूस जैसे होंगे? ब्रिटेन जैसे? या कि फ्रांस जैसे? वे लोग भारत के विरासती वैभव के बारे में बहुत बढ़-चढ़कर बोलते हैं, फिर भी अपना बौद्धिक भोजन पाश्चात्य देशों से प्राप्त करते हैं। वे लोग वियतनाम में अमरीकी अत्याचारों को लेकर चिंतित हो सकते हैं लेकिन वे अपने ही प्रांत में आंध्र प्रदेश के जमींदारों के द्वारा गरीब हरिजनों की झोपड़ियाँ जला देने पर कुछ नहीं बोलते हैं। वे गिसबर्ग के विरोध की सराहना करते हैं, उनके सारे भेदे तरीकों की सराहना करते हैं, लेकिन जब एक बहुत ही ईमानदार मगर उग्र विधानसभा सदस्य ने एक भ्रष्टमंत्री को चप्पलों से पीटा तो वे सहसा चौंक गए, इसलिए कि यह उनको असह्य तरीका लगा। वे लोग हिप्पियों की पोशाक पहनते हैं मगर कपड़ा वह विदेशी टेरीलीन होता है।'

लेखक को भारत के विकास के लिए क्या करना चाहिए या क्या सोचना चाहिए। अनंतमूर्ति ने लिखा है 'एक अग्रदर्शी भारतीय को मानवता के मेल जोल के लिए काम करना होगा जो केवल नयी वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों और नये राजनैतिक या आर्थिक ढाँचे से ही संभव हो सकेगा, जो कि पुनः अंतः संबंधित है।'

अधीर लेखक और गुमशुदा पाठक : मौजूदा दौर में हम सबके लिए गंभीर समस्याएँ लेकर आया है। साहित्यिक पत्रिकाएँ छप रही हैं, साहित्य भी छप रहा है, लेकिन साहित्य का कोई असर समाज पर नहीं दिख रहा। हम सोंचे साहित्य क्यों प्रभावहीन हो गया? पहले साहित्य या कलाओं में कोई चीज दाखिल होती थी तो अन्य कला रूपों में उसका असर दिखता था। समाज में वैचारिक विमर्श

असर नजर आता था। विगत तीस सालों में तेजी से आम लोगों में अधीरता का विकास हुआ है। नया लेखक अधीर है। पाठक सोया हुआ है। दूसरी ओर साहित्य सृजन और आलोचना, संस्कृति और राजनीति आदि के बीच में संबंध पूरी तरह कट चुका है। अखबारों की अंतर्वस्तु ने एक नए माहौल को जन्म दिया है, अब जो अखबार में छपा है वो सच है, इससे लेखन में यह भाव पैदा हुआ है कि मैंने जो लिखा है वह सच है। लेखक अपने लिखे को लेकर अधीर है, बेचैन है, बहुत जल्दी स्वीकृति चाहता है, यश चाहता है, इसे साहित्य की नई अग्नि कह सकते हैं। इसमें घी डालने का काम किया है पाठक की सुप्तावस्था ने। बेचैन लेखक और सुप्त पाठक का नया संबंध उबरकर सामने आया है। आज के पाठक की सुप्त मानसिक अवस्था को निर्मित करने में मीडिया की बड़ी भूमिका रही है। यह पाठक चाहता है कि अखबारों में उसके हितों का ख्याल रखा जाय। मीडिया का पाठक जब मीडिया का उपभोग करता है तो वह और कुछ नहीं करता बल्कि सिर्फ उपभोग करता है। अखबार के पाठक रोज अपना भोजन चाहिए, उसे रोज अपने हितों की अभिव्यंजना पढ़ने या देखने की आदत हो गयी है और यही उसकी अधीरता का मूल स्रोत भी है। पाठक की अधीरता का अखबार के संपादकों ने नए स्तंभों का आरंभ करके खूब दोहन किया है। वे विभिन्न स्तंभों के जरिए पाठक की अधीरता, जिज्ञासाओं और सवालों के समाधान पेश करते रहते हैं। इस क्रम में अबाधित और लक्ष्यहीन ढंग से सूचनाओं की बारिश हुई है और पाठक ने बिना सोचे विचारे प्रक्षेपित सूचनाओं को हजम भी किया

है। इस क्रम में पाठक में सामंजस्य और समझौते की भावना पैदा हुई है। हल्का और सतही लेखन क्रमशः पाठक की रुचि का अंग बन गया। फार्मूलाबद्ध लेखन पाठक का अंग बन गया और इसने गंभीर लेखन की अखबारों से छुट्टी कर दी। नए लेखन सिस्टम में शब्द तय हैं और स्थान तय हैं। अंतर्वस्तु को अब तयशुदा स्थान के लिहाज से पेश करना होता है। वे रचनाएं ज्यादा पढ़ी जा रही हैं जो गंभीर नहीं हैं। गंभीर रचना के पाठक क्रमशः कम होते जा रहे हैं। इसका असर साहित्य पर भी पड़ा है। साहित्यिक पत्रिकाओं के पाठक कम हुए हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं में हल्के लेखन की मांग बढ़ी है। साहित्य में हल्के साहित्य की मांग बढ़ी है।

बड़े पैमाने पर बुद्धिजीवी खासकर मीडियाजनित बुद्धिजीवी बेचैन आत्मा की तरह समाज में मंडराते दिखते हैं। आज लेखक की आत्मा, अंतरात्मा, ईमानदारी, निष्ठा, प्रतिबद्धता, साहित्यिकता आदि का कोई मूल्य नहीं है। आज ऐसा लेखक निर्मित हुआ है जो हर किस्म के समझौते करने को तैयार है। हर चीज के साथ समझौता करने के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं इसे वह महसूस ही नहीं करता। इसलिए वह बार-बार अपनी असफलता का रोना रोता रहता है वह नहीं जानता कि वह असफल क्यों हो रहा है? यह सच है कि हमने साहित्य की महिमा और शक्ति को ठंडे बस्ते में बंद करके विज्ञान, समाज विज्ञान, दर्शन आदि का महिमा मंडन किया है। अब हम साहित्य में एक ही चीज खोजते हैं वह है पैसा, अफसोस यह है कि वह भी मिलता नहीं है। हमने साहित्य की खोज बंद कर दी है।

संपर्क:

ए-8, पी 1/7, सी.आई.टी. स्कीम-VII एम,
कोलकाता-700054, मो. 09331762360

रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय संगोष्ठी

रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संयुक्त तत्त्वधान में 30.03.2015 को 'आज के संदर्भ में जयशंकर प्रसाद' विषय पर राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसका संयोजन रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. सुब्रत लाहिड़ी ने किया। उक्त संगोष्ठी में बीज वक्तव्य देते हुए राँची विश्वविद्यालय के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर रविभूषण ने प्रसाद को जीवन का कवि बताते हुए 'कामायनी' को भारतीय संस्कृति का आख्यान मानकर उसकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला। रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के प्रो. राजेंद्र प्रसाद ने बाजारवाद के समय में प्रसाद की रचनाओं को महत्वपूर्ण बताया। कवि एकांत श्रीवास्तव ने समकालीन कविता को गद्य के जाल में निमग्न बताते हुए प्रसाद की कविताओं के आधुनिक संदर्भ की व्याख्या की। विश्वभारती विश्वविद्यालय के प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी ने प्रसाद की रचनाओं को भारतीय संस्कृति का संवाहक बताते हुए उसके सामाजिक पक्ष का विश्लेषण किया। डॉ. मीरा सिन्हा ने प्रसाद के नाटकों की मंचीयता पर लगे आरोपों का खंडन करते हुए बताया कि प्रसाद के नाटक साहित्यिक नाटक हैं जिनका उद्देश्य उदात्त मानव मूल्यों की स्थापना करना है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के डॉ. राम आह्लाद चौधरी अपना आलेख प्रस्तुत करते हुए कहा कि भारतीय संस्कृति और परंपरा प्रसाद की समाज दृष्टि के महत्वपूर्ण उपादान हैं, जो प्रसाद की युगीन चेतना एवं रचनात्मकता के दार्शनिक आधार हैं। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी ने कहा कि प्रसाद का साहित्य 'वर्तमान की पीड़ा' को प्रकट करने में सक्षम है। अंत में धन्यवाद ज्ञापित करते हुए रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय के डॉ. सुब्रत लाहिड़ी ने कहा कि वर्तमान समय में व्याप्त अंधकार को दूर करने में प्रसाद का साहित्य पथ प्रदर्शक का कार्य करता है।

प्रस्तुति : परमजीत कुमार पंडित

राष्ट्रीय परिभाषादः स्त्री विमर्श और आधुनिकता

31 जनवरी 2015 को कलकत्ता के श्री शिक्षायतन कॉलेज एवं रानी बिड़ला कॉलेज के संयुक्त तत्त्वधान में राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई। जिसमें बीज वक्तव्य देते हुए कलकत्ता विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग के प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने कहा कि प्रत्येक स्त्री अपने आप में अलग होती है। अतः ऐसा स्त्री विमर्श होना चाहिए जो स्त्री को मनुष्य एवं नागरिक समझे तथा उसे लिंगीय भेद की चेतना से मुक्त करे, जिसके लिए वर्तमान में स्त्री को मनुष्य के रूप रूपांतरित करना ही आज का विषय है। राँची विश्वविद्यालय के प्रो. रविभूषण ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि स्त्री की मुक्ति अकेले में नहीं अपितु समूह की मुक्ति में है अर्थात् संपूर्ण समाज की मुक्ति में उसकी मुक्ति है जो जड़ संस्कार तथा रूढ़ विचार धारा से मुक्ति के द्वारा ही संभव है।

के.जी.टी. महाविद्यालय, बागडोगरा की असिस्टेंट प्रोफेसर पूनम सिंह ने प्रश्न उठाया कि स्त्री मुक्ति चाहती है किससे? यह उस पर निर्भर करता है, वह अपनी मुक्ति कहाँ देखती है? उक्त संगोष्ठी में प्रो. राजश्री शुक्ला, प्रो. सोमा बंद्योपाध्याय, डॉ. गीता दुबे, डॉ. वेद रमण और सिंह के वक्तव्य भी अत्यंत महत्वपूर्ण और सागरभित रहे।

प्रस्तुति : सोनम सिंह

‘मुक्तांचल’ का नूतन अंक प्राप्त कर प्रसन्नता हुई। प्रसाद जी पर केन्द्रित यह अंक विशेषकर कामायनी के अध्येताओं के लिए बहुत सारी शोध-सामग्री प्रस्तुत करता है। कृष्णदत्त पालीवाल एवं प्रो. सूर्य प्रसाद दीक्षित के आलेख गांधीर्यपूर्ण तो है ही, इन आलेखों से कामायनी पर नये सिरे से सोचने-विचारने के नये गवाक्ष खुलते हैं। डॉ. मीनाक्षी जोशी, डॉ. रंजना अरगड़े, डॉ. कमल कुमार एवं देवनाथ सिंह आनंद गौतम के आलेख से भी जयशंकर प्रसाद के कृतित्व के संबंध में विचारधारात्मक नयी जानकारीयाँ प्राप्त होती हैं। ‘आदिवासी अस्मिता और साहित्य’ पर डॉ. उमेश चंद्र शुक्ल का आलेख बहुत ही संतुलित है। आज आवश्यकता है कि आदिवासियों की समस्याओं पर निष्पक्ष रूप से चिंतन किया जाय ताकि उनकी वास्तविक समस्याएँ स्पष्टतः उजागर हो सकें तथा सरकार एवं स्वयंसेवी संस्थाएँ खुलकर उनकी सहायता कर सकें। अन्य आलेख, कहानियाँ तथा कविताएँ काफी रुचिकर लगती हैं।

हर अंक की तरह इस बार भी संपादकीय भी काफी प्रासंगिक लगा। संपादक की यह चिंता लाजिमी है कि पत्रिकाएं कभी जन जागरण का माध्यम हुआ करती थीं पर आज वह स्थान दृश्य मीडिया ने ले रखा है, फिर भी विचार विश्लेषण के लिए साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका अक्षुण्ण है। संपादक की आशाजनक एवं उत्प्रेरित करने वाली यह उक्ति ही साहित्य प्रेमियों एवं समाजकर्मियों के लिए संबल है। फिलहाल इस उत्कृष्ट अंक के लिए पत्रिका से जुड़े सभी व्यक्तियों को धन्यवाद!

डॉ. हरेराम पाठक, असम

‘मुक्तांचल’ का दूसरा अंक मुक्तिबोध के अथाह गंभीर जल से धुले चेहरे के साथ प्राप्त हुआ। (मैं उन चंद सौभाग्यवालों में से हूँ, जिन्होंने इस चेहरे को पास से देखा है और बचपन में तो सुना भी है। अंतिम बार उन्हें 1964 के पूर्वार्द्ध में भोपाल के हमीदिया अस्पताल के बिस्तर पर देखा था, उनके निधन के कुछ माह पूर्व।)

निस्संदेह, मुक्तिबोध हमारे समय के सबसे बड़े रचनाकार हैं। आपने शमशेर और सर्वेश्वर की कविताओं के बीच डेढ़ सौ पृष्ठों में से लगभग सवा सौ पृष्ठ उन पर केन्द्रित किया है और बहुत अच्छी सामग्री समेट ली है। वस्तुतः मुक्तिबोध के लिखे पर बहुत कम काम हुआ है। उनके पहले और आंशिक पाठ में (त्रिलोचन या केदारनाथ सिंह समेत) ज्यादातर विद्वानों ने गहराई में न जाकर, रामविलास शर्मा की छांह में एकांगी या पूर्वाग्रही धारणाएं बनाई और निष्कर्ष थमा दिए हैं। शमशेर जैसी पैनी नज़र ही मुक्तिबोध की रचनाशीलता की थाह ले पाती है। मुक्तिबोध कठिन कवि नहीं हैं, यह तो हमारी युवा पीढ़ी ने भी समझ लिया है। जीवन की सीधी-सादी पटरी पर दौड़े कवि की रचनाओं को चक्करदार जीनों में कैद करने की साजिश अब नहीं चलेगी। अक्टूबर 2016 में जब एक महान् क्रांति के सौवें वर्ष में हम होंगे, तब वे हमें खूब याद आएँगे। उनके ‘अँधेरे में’ ही हमारे युवा नया पथ देख रहे होंगे, यह भी मुझे लगता है। बहरहाल, आपको इस उम्दा प्रस्तुति के लिए बहुत-बहुत बधाइयाँ।

ओम भारती, भोपाल

महानगर कोलकाता, जो हिंदी समाचार-पत्र के प्रकाशन की उर्वरा भूमि रही है। जहाँ आज बंगला के बाद हिंदी की पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं और उनका अपना एक स्तर भी है। इसी संदर्भ में ‘मुक्तांचल’ के अंकों को पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई थी। दो प्राध्यापिकाएँ अपना दैनिक कार्य करते हुए भी एक स्तरीय पत्रिका का प्रकाशन कर रही हैं। पिछला अंक जो मुख्यतः प्रसाद पर केन्द्रित था, उसे पढ़कर और उसकी शोध दृष्टि से प्रभावित होकर मैं संपादक द्वय (डॉ. मीरा सिन्हा और डॉ. अर्चना पाण्डेय) को साधुवाद देता हूँ, और आशा करता हूँ कि यह पत्रिका हिंदी साहित्य एवं शोध की दिशा में अपना स्तर बरकरार रखेगी। साधुवाद के साथ.....

प्रो. ब्रह्मदेव मिश्र, वाराणसी

मुक्तांचल का जनवरी-मार्च अंक प्राप्त हुआ। पत्रिका में स्तरीय पठनीय आलेख, विमर्श, कविता तथा अन्य सामग्री के चयन एवं उत्कृष्ट संपादन, प्रकाशन हेतु हार्दिक बधाई!

राजेन्द्र जैन, भोपाल

संपादकीय में गंभीर मुद्दे उठाये गये हैं। प्रसाद पर उत्कृष्ट आलेख पढ़ने को मिले। बधाई!

मीरा गौतम, चंडीगढ़

‘मुक्तांचल’ प्राप्ति ब्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

मानव प्रकाशन : 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

ओम न्यूज एजेंसी : रंगमहल टाकीज के सामने, न्यू मार्केट भोपाल

श्री सुमन कुमार : प्रगतिशील पुस्तक भंडार, इलाहाबाद बैंक के सामने,
अशोक राजपथ, पटना-800004

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन : 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

इस पार तक...

राजेंद्र यादव

(28 अगस्त 1929 - 28 अक्टूबर 2013)



कहानी युग के संदर्भों, दबावों से प्राप्त 'अपने अनुभवों' को आत्मसात् करके, उन्हें पात्रों, स्थितियों में फैलाकर तटस्थ भाव से देखने-समझने और पाठक तक पहुँचाने का प्रयास है। अपने राग-बोध को अलग-अलग नाम-रूपधारी व्यक्तियों, स्थितियों में फैलाना, उन्हें अपने से तोड़कर सामने रख लेना है, उन्हें समझना और अनुशासित कर लेना है। इस प्रक्रिया को व्यक्तिगत अनुभवों से गुजरने के साथ-साथ निर्व्यक्तिक दृष्टि से उन्हें देखने-समझने का द्वंद्व भी कह सकते हैं। व्यक्तिगत अनुभवों के अन्वेषण की दिशा में अधिक ग्रहणशील, संवेदनशील होने और उन्हें निर्व्यक्तिक दृष्टि से देखने में अधिक सजग बनाने की प्रशिक्षण क्रिया भी है - अपने से ऊपर उठने का प्रयत्न और बोध दोनों। जिन संवेदना-चित्रों से लेखक उन अनुभवों-अनुभूतियों को पाता है, उन्हें अधिक समृद्ध-सम्पादित और सार्थक करके, अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से अनुशासित करके, इस प्रकार संप्रेषित करता है कि दूसरे के लिए भी संवेदनीय बन जायें। या कहें कि यह 'दूसरा' ही इस निर्व्यक्तीकरण की प्रेरणा है। अतः पाठक के लिए कहानी पढ़ना उस अनुभव को अपने भीतर घटित होते हुए पाना और स्वयं उससे होकर गुजरना भी है। अपने अनुभव को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए लेखक को भाषा से लेकर स्थितियों तक अधिक-से-अधिक अपने को इन्द्रिय-संवेद्य बनाना पड़ता है, ऐसे ही चित्रों में बात कहनी होती है। परिणामतः आज पाठक केवल घटनाओं की समझता, वातावरण को देखता या चरित्रों को पढ़ता ही नहीं, पात्रों की संवेदना को अपनाकर, सिचुएशन्स और परिवेश को अपने भीतर घटते हुए 'देखता' है।

एक दुनिया : समानान्तर

